॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

1408

सब साधनोंका सार

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

नम्र निवेदन

शीघ्र एवं सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहनेवाले साधकोंका मार्गदर्शन करनेके लिये परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजकी पुस्तकोंका पारमार्थिक जगत्‌में विशेष स्थान है। इन पुस्तकोंसे पारमार्थिक जगत्‌में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। कारण कि इनमें गुह्यतम आध्यात्मिक विषयोंको सीधे-सरल ढंगसे प्रस्तुत किया गया है, जिससे साधक इधर-उधर न भटककर सीधी राह पकड़ सके। प्रस्तुत पुस्तक 'सब साधनोंका सार' भी इसी तरहकी पुस्तक है, जो प्रत्येक मार्गके साधकके लिये अत्यन्त उपयोगी है। सार बात हाथ लग जाय तो फिर सब साधन सुगम हो जाते हैं। परन्तु साधकका उद्देश्य अनुभव करनेका होना चाहिये, कोरी बातें सीखने और दूसरोंको सुनानेका नहीं। सीखा हुआ ज्ञान अभिमान बढ़ानेके सिवाय और कुछ काम नहीं आता। अतः पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि वे अनुभवके उद्देश्यसे इस पुस्तकका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें और लाभ उठायें।

—प्रकाशक

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

❑ ❑

॥ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

१ —— सब साधनोंका सार ——

जीवमात्रका स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। वह सत्ता सत्-रूप, चित्-रूप और आनन्द-रूप है। वह सत्ता नित्य-निरन्तर ज्यों-की-त्यों निर्विकार, असंग रहती है। इस स्वरूपको अर्थात् अपने-आपको जब मनुष्य भूल जाता है, तब उसमें देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वह अपनेको शरीर मान लेता है। शरीरसे माना हुआ यह सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—१. मैं शरीर हूँ, २. शरीर मेरा है और ३. शरीर मेरे लिये है।

हमारे देखनेमें दो ही चीजें आती हैं—नाशवान् (जड़) और अविनाशी (चेतन)। इन दोनोंका विभाग अलग-अलग है। इसीको गीताने शरीर और शरीरी, क्षर और अक्षर, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदि नामोंसे कहा है। इसीको सन्तोंने 'नहीं' और 'है' नामसे कहा है। हमारा स्वरूप शरीरी है, चेतन है, अविनाशी है, अक्षर है, क्षेत्रज्ञ है और 'है'-रूप है। जो हमारा स्वरूप नहीं है, वह शरीर है, जड़ है, नाशवान् है, क्षर है, क्षेत्र है और 'नहीं'-रूप है। जो 'है'-रूप है, वह नित्यप्राप्त है और जो 'नहीं'-रूप है, वह मिलता है और बिछुड़ जाता है।

एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेसे शुद्ध 'है' दीख जाता है। कारण यह है कि मैं शुद्ध, बुद्ध और मुक्त आत्मा हूँ—इस प्रकार 'है' पर विचार करनेमें हम मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ 'नहीं' (मन-बुद्धि, वृत्ति, मैं-पन) भी मिला रहेगा। परन्तु मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये

नहीं है—इस प्रकार 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे विचार करनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा। उदाहरणार्थ—झाड़ूके द्वारा कूड़ा-करकट दूर करनेसे उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और साफ मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि 'मैं आत्मा हूँ'—इसका मनसे चिन्तन तथा बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'मैं शरीर नहीं हूँ'—इस प्रकार विचार करनेपर शरीर और वृत्ति दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और चिन्मय सत्तारूप शुद्ध स्वरूप स्वतः शेष रह जायगा। इसलिये तत्त्वप्राप्तिमें निषेधात्मक साधन मुख्य है। निषेधात्मक साधनमें साधकके लिये तीन बातोंको स्वीकार कर लेना आवश्यक है—मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। जबतक साधकमें यह भाव रहेगा कि मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा तथा मेरे लिये है, तबतक वह कितना ही उपदेश पढ़ता-सुनता रहे और दूसरोंको सुनाता रहे, उसको शान्ति नहीं मिलेगी और कल्याण भी नहीं होगा। इसलिये गीताके आरम्भमें ही भगवान्‌ने साधकके लिये इस बातपर विशेष जोर दिया है कि जो बदलता है, जिसका जन्म और मृत्यु होती है, वह शरीर तुम नहीं हो।

मैं शरीर नहीं हूँ

सर्वप्रथम साधकको यह बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि मैं चिन्मय सत्तारूप हूँ, शरीररूप नहीं हूँ। हम कहते हैं कि बचपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। शरीरको देखें तो बचपनसे लेकर आजतक हमारा शरीर इतना बदल गया कि उसको पहचान भी नहीं सकते, फिर भी हम वही हैं—यह

हमारा अनुभव कहता है। बचपनमें मैं खेलता-कूदता था, बादमें मैं पढ़ता था, आज मैं नौकरी-धंधा करता हूँ। सब कुछ बदल गया, पर मैं वही हूँ। कारण कि शरीर एक क्षण भी ज्यों-का-त्यों नहीं रहता, निरन्तर बदलता रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि जो बदलता है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। जो नहीं बदलता, वही हमारा स्वरूप है।

हमने अबतक असंख्य शरीर धारण किये, पर सब शरीर छूट गये, हम वही रहे। मृत्युकालमें भी शरीर तो यहीं छूट जायगा, पर अन्य योनियोंमें हम जायँगे, स्वर्ग-नरक आदि लोकोंमें हम जायँगे, मुक्ति हमारी होगी, भगवान्‌के धाममें हम जायँगे। तात्पर्य है कि हमारी सत्ता (होनापन) शरीरके अधीन नहीं है। शरीरके बढ़ने-घटनेपर, कमजोर-बलवान् होनेपर, बालक-बूढ़ा होनेपर अथवा रहने-न-रहनेपर हमारी सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। जैसे हम किसी मकानमें रहते हैं तो हम मकान नहीं हो जाते। मकान अलग है, हम अलग हैं। मकान वहीं रहता है, हम उसको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसे ही शरीर यहीं रहता है, हम उसको छोड़कर चले जाते हैं। शरीर तो मिट्टी हो जाता है, पर हम मिट्टी नहीं होते। हमारा स्वरूप गीताने इस प्रकार बताया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

(गीता २। २३-२४)

‘शस्त्र इस शरीरीको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती। यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है।’

तात्पर्य है कि शरीरका विभाग ही अलग है और न बदलनेवाले शरीरी (स्वरूप)-का विभाग ही अलग है। हमारा स्वरूप किसी शरीरसे लिप्त नहीं है, इसलिये उसको गीतामें भगवान्ने सर्वव्यापी कहा है—‘**येन सर्वमिदं ततम्**’ (२।१७), ‘**सर्वगतः**’ (२।२४)। तात्पर्य है कि स्वरूप एक शरीरमें सीमित नहीं है, प्रत्युत सर्वव्यापी है।

शरीर पृथ्वीपर ही (माँके पेटमें) बनता है, पृथ्वीपर ही घूमता-फिरता है और मरकर पृथ्वीमें ही लीन हो जाता है। इसकी तीन गतियाँ बतायी गयी हैं—इसको जला देंगे तो भस्म बन जायगी, पृथ्वीमें गाड़ देंगे तो मिट्टी बन जायगी और जानवर खा लेंगे तो विष्ठा बन जायगी। इसलिये शरीर मुख्य नहीं है, प्रत्युत हमारा स्वरूप मुख्य है।

यद्यपि होनापन (सत्ता) आत्माका ही है, शरीरका नहीं, तथापि साधकसे भूल यह होती है कि वह पहले शरीरको देखकर फिर उसमें आत्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि आत्मा पहले थी या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि आत्मा पहले है और शरीर पीछे है। भाव पहले है और आकृति पीछे है। इसलिये

हमारी दृष्टि पहले भावरूप आत्मा (स्वरूप)-की तरफ जानी चाहिये, शरीरकी तरफ नहीं।

जैसे भोजनालय भोजन करनेका स्थान होता है, ऐसे ही यह शरीर सुख-दुःख भोगनेका स्थान (भोगायतन) है। सुख-दुःख भोगनेवाला शरीर नहीं होता, प्रत्युत शरीरसे सम्बन्ध जोड़नेवाले हम स्वयं होते हैं। भोगनेका स्थान अलग होता है और भोगनेवाला अलग होता है। शरीर तो ऊपरका चोला है। हम कैसा ही कपड़ा पहनें, कपड़ा अलग होता है, हम अलग होते हैं। जैसे हम अनेक कपड़े बदलनेपर भी एक ही रहते हैं, अनेक नहीं हो जाते, ऐसे ही अनेक योनियोंमें अनेक शरीर धारण करनेपर भी हम स्वयं एक ही (वही-के-वही) रहते हैं। जैसे पुराने कपड़े उतारनेपर हम मर नहीं जाते और नये कपड़े पहननेपर हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीर छोड़नेपर हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेपर हम पैदा नहीं हो जाते*। तात्पर्य है कि शरीर जन्मता-मरता है, हम नहीं जन्मते-मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पाप-पुण्यका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें और स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्त कौन होगा? हमारा जीवन इस शरीरके अधीन नहीं है। हमारी आयु बहुत लम्बी—अनादि और अनन्त है। महासर्ग और महाप्रलय हो जाय तो भी हम जन्मते-मरते नहीं, प्रत्युत ज्यों-के-त्यों रहते हैं—'**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' (गीता १४। २)।

---

* वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गीता २। २२)

हमारा और शरीरका स्वभाव बिलकुल अलग-अलग है। हम शरीरके साथ चिपके हुए, शरीरके साथ मिले हुए नहीं हैं। शरीर भी हमारे साथ चिपका हुआ, हमारे साथ मिला हुआ नहीं है। जैसे शरीर संसारमें रहता है, ऐसे हम शरीरमें नहीं रहते। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। वास्तवमें हमें शरीरकी जरूरत ही नहीं है। शरीरके बिना भी हम स्वयं मौजसे रहते हैं। तात्पर्य है कि शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ता। अबतक हम असंख्य शरीर धारण कर-करके छोड़ चुके हैं, पर उससे हमारी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? हमारा क्या नुकसान हुआ? हम तो ज्यों-के-त्यों ही रहे—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार—इन सबके अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उदाहरणार्थ, सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)-के समय हमें शरीरादिके अभावका अनुभव होता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि सुषुप्तिमें मैं नहीं था, मर गया था। कारण कि शरीरादिके अभावका अनुभव होनेपर भी हमें अपने अभावका अनुभव नहीं होता। तभी जगनेपर हम कहते हैं कि मैं बड़े सुखसे सोया कि कुछ भी पता नहीं था। सुषुप्तिमें भी हमारा होनापन ज्यों-का-त्यों था। इससे सिद्ध हुआ कि हमारा होनापन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकारके अधीन नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब शरीरोंका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता।

हमारा स्वरूप स्वतः-स्वाभाविक असंग है—'**असङ्गो**

ह्ययं पुरुषः' (बृहदारण्यक० ४।३।१५), '**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' (गीता १३।२२)। इसलिये शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानते हुए भी वास्तवमें हम शरीरसे लिप्त नहीं होते। शरीरका संग करते हुए भी वास्तवमें हम असंग रहते हैं। तभी भगवान् कहते हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३।३१)। तात्पर्य है कि बद्धावस्थामें भी स्वरूप वास्तवमें मुक्त ही है। बद्धपना माना हुआ है और मुक्तपना हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप है। जैसे अन्धकार और प्रकाश आपसमें नहीं मिल सकते, ऐसे ही शरीर (जड़, नाशवान्) और स्वरूप (चेतन, अविनाशी) आपसमें नहीं मिल सकते। कारण कि शरीर संसारका अंश है और हम स्वयं परमात्माके अंश हैं।

एक ही दोष अथवा गुण स्थानभेदसे अनेक रूपोंसे प्रकट होता है। शरीरको अपनेसे अधिक महत्त्व देना अर्थात् शरीरको अपना स्वरूप मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। अपने स्वरूप (चिन्मय सत्तामात्र)-को शरीरसे अधिक महत्त्व देना मूल गुण है, जिससे सम्पूर्ण सद्‌गुणोंकी उत्पत्ति होती है।

अर्जुनने गीताके आरम्भमें भगवान्‌से अपने कल्याणका उपाय पूछा—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**' (२।७)। इसके उत्तरमें भगवान्‌ने सर्वप्रथम शरीर और शरीरी (स्वरूप)-का ही वर्णन किया। इससे सिद्ध होता है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसके लिये सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ'। जबतक उसमें 'मैं शरीर हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक वह कितना ही उपदेश सुनता रहे अथवा सुनाता रहे और साधन भी करता रहे, उसका कल्याण नहीं होगा।

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः 'मैं शरीर नहीं हूँ'— यह विवेक मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। शरीरको 'मैं'

माननना मनुष्यता नहीं है, प्रत्युत पशुता है। इसलिये श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।'

शरीर कभी एकरूप रहता ही नहीं और हमारा स्वरूप कभी अनेकरूप होता ही नहीं। शरीर जन्मसे पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी यह प्रतिक्षण मर रहा है। वास्तवमें गर्भमें आते ही शरीरके मरनेका क्रम शुरू हो जाता है। बाल्यावस्था मर जाय तो युवावस्था आ जाती है। युवावस्था मर जाय तो वृद्धावस्था आ जाती है। वृद्धावस्था मर जाय तो देहान्तर-अवस्था अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति हो जाती है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

बाल, युवा और वृद्ध—ये तीन अवस्थाएँ स्थूलशरीरकी हैं और देहान्तरकी प्राप्ति सूक्ष्म तथा कारणशरीरकी है। देहान्तरकी प्राप्ति (मृत्यु) होनेपर स्थूलशरीर तो छूट जाता है, पर सूक्ष्म तथा कारणशरीर नहीं छूटते। जबतक मुक्ति न हो, तबतक सूक्ष्म तथा कारणशरीरसे सम्बन्ध बना रहता है। तात्पर्य है कि हमारा वास्तविक स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—इन तीनों शरीरोंसे तथा इनकी अवस्थाओंसे अतीत है। शरीर और उसकी अवस्थाएँ बदलती हैं, पर स्वरूप वही-का-वही रहता है। जन्मना और

मरना हमारा धर्म नहीं है, प्रत्युत शरीरका धर्म है। हमारी आयु अनादि और अनन्त है, जिसके अन्तर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। हमारी स्वतन्त्रता और असंगता स्वतःसिद्ध है। असंग (निर्लिप्त) होनेके कारण ही हम अनेक शरीरोंमें जानेपर भी वही रहते हैं, पर शरीरके साथ संग मान लेनेके कारण हम अनेक शरीरोंको धारण करते रहते हैं। माना हुआ संग तो टिकता नहीं, पर हम नया-नया संग पकड़ते रहते हैं। अगर नया संग न पकड़ें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है।

बालिके मरनेपर भगवान् श्रीराम तारासे कहते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तुएँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, घटनाएँ बदलती हैं, पर हम नहीं बदलते। हम निरन्तर वही रहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बदलती हैं, पर तीनों अवस्थाओंमें हम एक ही रहते हैं, तभी हमें तीनों अवस्थाओंका और उनके परिवर्तन (आरम्भ और अन्त)-का ज्ञान होता है। स्थूल दृष्टिसे विचार करें तो जैसे हम हरिद्वारसे रायवाला आये और फिर रायवालासे ऋषिकेश आये। अगर हरिद्वारमें या रायवालामें अथवा ऋषिकेशमें ही रहनेवाले होते तो हरिद्वारसे ऋषिकेश कैसे आते? अतः हम न तो हरिद्वारमें रहनेवाले हुए, न रायवालामें रहनेवाले हुए और न ऋषिकेशमें ही

रहनेवाले हुए, प्रत्युत तीनोंसे अलग हुए। हरिद्वार, रायवाला और ऋषिकेश तो अलग-अलग हुए, पर हम उन तीनोंको जाननेवाले एक ही रहे। ऐसे ही हम सभी अवस्थाओंमें एक ही रहते हैं। इसलिये हमें बदलनेवालेको न देखकर रहनेवाले (स्वरूप)-को ही देखना चाहिये—

रहता रूप सही कर राखो बहता संग न बहीजे।

जैसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों शरीर अपने नहीं हैं, ऐसे ही स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता तथा समाधि भी अपनी नहीं है। कारण कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। प्रत्येक चिन्तन आता और जाता है। स्थिरताके बाद चंचलता तथा समाधिके बाद व्युत्थान होता ही है। क्रिया, चिन्तन, स्थिरता और समाधि—कोई भी अवस्था निरन्तर नहीं रहती। इन सबके आने-जानेका अनुभव तो हम सबको होता है, पर अपने आने-जानेका, परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। हमारा होनापन निरन्तर रहता है।

विचार करें, जब चौरासी लाख योनियोंमें कोई भी शरीर हमारे साथ नहीं रहा तो फिर यह शरीर हमारे साथ कैसे रहेगा? जब चौरासी लाख शरीर मैं-मेरे नहीं रहे तो फिर यह शरीर मैं-मेरा कैसे रहेगा?

शरीर मेरा नहीं है

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त वस्तुएँ हैं, पर उनमेंसे तिनके-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है, फिर शरीर हमारा कैसे हुआ? यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलती है और बिछुड़ जाती है, वह अपनी नहीं होती। शरीर मिला है और बिछुड़ जायगा, इसलिये

वह अपना नहीं है। अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। यदि शरीर अपना होता तो यह सदा हमारे साथ रहता और हम सदा इसके साथ रहते। परन्तु शरीर एक क्षण भी हमारे साथ नहीं रहता और हम इसके साथ नहीं रहते।

एक वस्तु अपनी होती है और एक वस्तु अपनी मानी हुई होती है। भगवान् अपने हैं; क्योंकि हम उन्हींके अंश हैं— '**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। वे हमसे कभी बिछुड़ते ही नहीं। परन्तु शरीर अपना नहीं है, प्रत्युत अपना माना हुआ है। जैसे नाटकमें कोई राजा बनता है, कोई रानी बनती है, कोई सिपाही बनते हैं तो वे सब नाटक करनेके लिये माने हुए होते हैं, असली नहीं होते। ऐसे ही शरीर संसारके व्यवहार (कर्तव्य-पालन)-के लिये अपना माना हुआ है। यह वास्तवमें अपना नहीं है। जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको तो भुला दिया और जो अपना नहीं है, उस शरीरको अपना मान लिया—यह हमारी बहुत बड़ी भूल है। शरीर चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो, चाहे कारण हो, वह सर्वथा प्रकृतिका है। उसको अपना मानकर ही हम संसारमें बँधे हैं।

परमात्माका अंश होनेके नाते हम परमात्मासे अभिन्न हैं। प्रकृतिका अंश होनेके नाते शरीर प्रकृतिसे अभिन्न है। जो अपनेसे अभिन्न है, उसको अपनेसे अलग मानना और जो अपनेसे भिन्न है, उसको अपना मानना सम्पूर्ण दोषोंका मूल है। जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेके कारण ही जो वास्तवमें अपना है, वह अपना नहीं दीखता।

यह हम सबका अनुभव है कि शरीरपर हमारा कोई वश (अधिकार) नहीं चलता। हम अपनी इच्छाके अनुसार शरीरको

बदल नहीं सकते, बूढ़ेसे जवान नहीं बना सकते, रोगीसे नीरोग नहीं बना सकते, कमजोरसे बलवान् नहीं बना सकते, कालेसे गोरा नहीं बना सकते, कुरूपसे सुन्दर नहीं बना सकते, मृत्युसे बचाकर अमर नहीं बना सकते। हमारे न चाहते हुए भी, लाख प्रयत्न करनेपर भी शरीर बीमार हो जाता है, कमजोर हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है और मर भी जाता है। जिसपर अपना वश न चले, उसको अपना मान लेना मूर्खता ही है।

शरीर मेरे लिये नहीं है

शरीर नाशवान् है और हमारा स्वरूप अविनाशी है। अविनाशी तत्त्वके लिये अविनाशी वस्तु ही हो सकती है। नाशवान् वस्तु अविनाशीके लिये कैसे हो सकती है? अविनाशीके क्या काम आ सकती है? अमावस्याकी रात्रि सूर्यके क्या काम आ सकती है? सांसारिक शरीर आदि वस्तुएँ संसारके ही काम आती हैं, हमारे काम किंचिन्मात्र भी नहीं आतीं। इसलिये अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो हमारी और हमारे लिये हो। अतः शरीर मेरे लिये है, शरीरसे मेरेको कोई लाभ हो जायगा—यह कोरा वहम है।

शरीर केवल कर्म करनेका साधन है और कर्म केवल संसारके लिये ही होता है। जैसे कोई लेखक जब लिखने बैठता है, तब वह लेखनीको ग्रहण करता है और लिखना बन्द करनेपर लेखनीको छोड़ देता है, ऐसे ही हमें कर्म करते समय शरीरको स्वीकार करना चाहिये और कर्म समाप्त होते ही शरीरसे असंग हो जाना चाहिये। अगर हम कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत है? अगर हम कोई कर्म न करें तो शरीरका कोई उपयोग नहीं है। शरीर परिवारकी, समाजकी अथवा संसारकी सेवाके

लिये है, अपने लिये है ही नहीं। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता तथा समाधि भी हमारे लिये नहीं है। हमारे काम न क्रिया आती है, न चिन्तन आता है, न स्थिरता आती है, न समाधि आती है। ये सब प्राकृत वस्तुएँ हैं और संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप इनसे अलग है।

अगर शरीर हमारे लिये होता तो उसके मिलनेपर हमें सन्तोष हो जाता, हमारे भीतर और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती और शरीरसे कभी वियोग भी नहीं होता, वह सदा ही हमारे साथ रहता। परन्तु यह सबका अनुभव है कि शरीर मिलनेपर भी हमें सन्तोष नहीं होता, हमारी इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं, हमें पूर्णताका अनुभव नहीं होता और शरीर भी सदा हमारे साथ नहीं रहता, प्रत्युत हमारेसे बिछुड़ जाता है। इसलिये शरीर हमारे लिये नहीं है।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब शरीर हमारे लिये है ही नहीं, तो फिर शास्त्रोंमें मनुष्यशरीरकी महिमा क्यों गायी गयी है? इसका समाधान है कि वास्तवमें वह महिमा शरीर (आकृति)-की नहीं है, प्रत्युत विवेककी है। आकृतिका नाम मनुष्य नहीं है, प्रत्युत विवेकशक्तिका नाम मनुष्य है। मनुष्य-शरीरका मस्तिष्क विशेष प्रकारसे बना हुआ है, जिसमें सत् और असत्, कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक विशेषरूपसे प्रकट हो सकता है। वैसा मस्तिष्क अन्य शरीरोंमें नहीं है। अन्य (पशु आदि) शरीरोंका विवेक उनके जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। इसलिये मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है—इस विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग मनुष्य ही कर सकता है।

उपसंहार

शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये मानना विवेकविरोधी सम्बन्ध है। विवेकविरोधी सम्बन्धको रखते हुए कोई भी साधक सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता। शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई कितनी ही तपस्या कर ले, समाधि लगा ले, लोक-लोकान्तरोंमें घूम आये अथवा यज्ञ, दान आदि बड़े-बड़े पुण्यकर्म कर ले, तो भी उसका बन्धन सर्वथा नहीं मिट सकता। परन्तु शरीरके सम्बन्धका त्याग होते ही बन्धन मिट जाता है और सत्य तत्त्वकी अनुभूति हो जाती है। इसलिये विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग किये बिना साधकको चैनसे नहीं बैठना चाहिये। अगर हम शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग न करें तो भी शरीर हमारा त्याग कर ही देगा। जो हमारा त्याग अवश्य करेगा, उसका त्याग करनेमें क्या कठिनाई है? किसी भी मार्गका साधक क्यों न हो, उसे इस सत्यको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। कारण कि शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही मूल बन्धन अथवा दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है।

शरीर संसारकी वस्तु है। संसारकी वस्तुको मैं, मेरा और मेरे लिये मान लेना बेईमानी है और इसी बेईमानीका दण्ड है—जन्म-मरणरूप महान् दुःख। इसलिये साधकका कर्तव्य है कि वह ईमानदारीके साथ संसारकी वस्तुको संसारकी ही मानते हुए उसे संसारकी सेवामें अर्पित कर दे और भगवान्‌की वस्तुको अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌का ही मानते हुए भगवान्‌के समर्पित कर दे। ऐसा करनेमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्ण सार्थकता है।

❑ ❑

२ —— अपना किसे मानें ? ——

सच्चे हृदयसे स्वीकार कर लें कि हम भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं। भगवान्‌ने जीवको खास अपना अंश बताया है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। अंश होनेके नाते हम खास भगवान्‌के हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरी चीजको अपनी मानना बहुत बड़ी गलती है। भगवान्‌के सिवाय दूसरा सब क्षणभंगुर है, नाशवान् है। यद्यपि वह क्षणभंगुर, नाशवान् भी भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति है, पर हम उसको भगवान्‌की वस्तु न मानकर भोग और संग्रहकी दृष्टिसे देखते हैं।

संसार भगवान्‌का है। उसको अपने भोग और संग्रहके लिये मानना बहुत बड़ी गलती है। संसार तो खिलौना है, खेलकी सामग्री है। खिलौना कोई तत्त्व नहीं होता। वह तो खेलके लिये होता है। उसमें कभी हार होती है, कभी जीत होती है। हार और जीत कोई तत्त्व नहीं रखते। तत्त्वकी चीज तो एक परमात्मा ही हैं। उस परमात्माकी विलक्षणताका पूरा वर्णन कोई कर सकता ही नहीं। वह अनन्त है, अपार है, असीम है। आज दिनतक वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें परमात्माका जो वर्णन हुआ है, वह सब-का-सब इकट्ठा कर लिया जाय तो उससे परमात्माके किसी छोटे अंशका भी वर्णन नहीं होगा! ऐसे अनन्त, अपार परमात्माका वर्णन तो नहीं कर सकते, पर उनको अपना मान सकते हैं। इसलिये मीराबाईने कहा—'***मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई***'। यह असली तत्त्वकी, समझकी बात है। भगवान् हमारे हैं और सदा हमारे ही रहेंगे। हम कहीं भी चले जायँ, वे सदा हमारे साथमें ही रहते हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई हमारे साथ रहता ही नहीं, रह सकता ही नहीं, फिर भगवान्‌के सिवाय और

किसको अपना मानें? अन्तमें भगवान्‌को ही अपना मानना पड़ेगा। ऐसा साथी और कोई मिलेगा नहीं। विचार करें, क्या शरीर हरदम साथमें रहेगा? क्या घर-कुटुम्ब सदा साथमें रहेगा? क्या जमीन-जायदाद सदा साथमें रहेगी? क्या आदर-सत्कार,मान-बड़ाई सदा साथमें रहेगी? जब हमारे साथ रहनेवाली कोई चीज है ही नहीं, तो फिर किससे अपनापन करें? किससे प्रेम करें? किसको अपना समझें? अब चाहे परवश, पराधीन, मजबूर, लाचार होकर ही क्यों न मानना पड़े, हमें परमात्माको ही अपना मानना पड़ेगा! कोई साथमें रहनेवाला है ही नहीं तो क्या करें? साथमें रहनेवाला एक ही है, और वह है—परमात्मा। हम चौरासी लाख योनियोंमें जायँ, स्वर्गमें जायँ, नरकोंमें जायँ, किसी भी लोकमें जायँ, तो भी वह हमारा साथ कभी छोड़ता नहीं। हमारा साथ छोड़ना उसको आता ही नहीं! परमात्मामें अनन्त सामर्थ्य है, पर हमारा साथ छोड़नेकी उसमें सामर्थ्य ही नहीं है! इस विषयमें वह लाचार है! सन्त-महात्माओंने इस बातको ठीक तरहसे जानकर ही भगवान्‌को अपना माना है, उनसे प्रेम किया है!

भगवान्‌के समान साथी कोई नहीं मिलेगा, कभी नहीं मिलेगा, कहीं नहीं मिलेगा। आपको जँचे या न जँचे, यह बात अलग है, पर बात यही सच्ची है। भगवान्‌ने भी साफ कह दिया—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

‘इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा स्वयं मेरा ही सनातन अंश है।’

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७। २)

ईश्वरका अंश होनेसे जीव अविनाशी है, चेतन है, मलरहित है और सहज सुखराशि है। परन्तु मिलने और बिछुड़नेवाले पदार्थोंको अपना मानकर यह दुःख पा रहा है। यह कभी माताका वियोग होनेसे रोता है, कभी पिताका वियोग होनेसे रोता है, कभी स्त्रीका वियोग होनेसे रोता है, कभी पुत्रका वियोग होनेसे रोता है, कभी मित्रका वियोग होनेसे रोता है! यह सोचता ही नहीं कि जिनसे रोना पड़े, ऐसोंको अपना साथी क्यों बनाऊँ? संसारके सभी सम्बन्ध सेवा करनेके लिये हैं, अपना माननेके लिये नहीं। उनको अपना मानोगे तो एक दिन रोना ही पड़ेगा। जिनको हम अपना प्रिय मानते हैं, वे एक दिन हमें रुलायेंगे—'**प्रियं रोत्स्यति**' (बृहदारण्यक० १।४।८)। इसलिये हमें ऐसा साथी बनाना चाहिये, जिसके लिये कभी रोना पड़े ही नहीं। पीछे रोना पड़े, ऐसी भूल करें ही क्यों? कोई बालक या जवान मर जाता है तो बूढ़ी माताएँ कहती हैं कि हमने ऐसा नहीं जाना था कि यह हमारेको छोड़ जायगा! नहीं जाना था तो अब जान जाओ कि ये सभी जानेवाले हैं। अब ऐसा साथी बनाओ कि कभी छोड़कर जाय ही नहीं। ऐसा साथी केवल भगवान् ही हैं। भगवान् कभी बदलते ही नहीं, कभी बूढ़े होते ही नहीं, कभी उनके सफेद बाल होते ही नहीं, कभी मरते ही नहीं। उनका बनाया हुआ संसार तो सेवा करनेके लिये है। सेवा करनेकी सामग्रीको भोग-सामग्री समझ लेना गलती है। जिस वस्तुका संयोग और वियोग होता है, वह वस्तु अपनी और अपने लिये होती ही नहीं। उसको केवल सेवाके लिये ही मानो। आज मानो तो आज निहाल हो जाओगे। जैसे मनुष्य दान-पुण्यके लिये पैसे निकालता है तो उसके भीतर यह भाव रहता है कि यह पैसा अपने लिये नहीं है, देनेके लिये है। ऐसे ही संसारकी सब वस्तुओंके लिये मान लो कि ये अपने लिये नहीं हैं, सेवाके लिये

हैं। उनसे अपना शरीर-निर्वाह करनेमें कोई हर्ज नहीं है। उनसे अपना निर्वाह तो करो, पर उनको अपना साथी मत मानो।

आप प्रत्यक्ष देखते हैं कि किसीका भी शरीर सदा नहीं रहता। आपके सामने वस्तु नष्ट हो जाती है और आप रोते हैं। इसलिये इतना विचार तो होना चाहिये कि जिसके बिछुड़नेपर रोना पड़े, उसको अपना न मानें। आपके पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो कुछ है, वह सब-का-सब दूसरोंकी सेवाके लिये ही है, अपने लिये है ही नहीं। ऐसी स्पष्ट बात सुगमतासे पढ़ने-सुननेको नहीं मिलती। मेरेको तो व्याख्यान देते हुए भी वर्षोंतक नहीं मिली। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली समाधि दूसरोंके लिये ही है, अपने लिये है ही नहीं। इनके द्वारा कभी अपनी तृप्ति नहीं होती, चाहे लाखों-करोड़ों, अरबों-खरबों वर्ष क्यों न बीत जायँ! ये सब नाशवान् हैं और आप सब साक्षात् परमात्माके अंश हैं। चौरासी लाख योनियाँ भुगतते हुए सब शरीर छूट गये तो क्या यह शरीर नहीं छूटेगा? जिस माटीके वे शरीर थे, उसी माटीका यह शरीर है। यह भी मिला है और बिछुड़ेगा।

इस एक ही बातको ठीक तरहसे मान लो, समझ लो,पक्का कर लो कि जो वस्तु मिलती है और बिछुड़ जाती है, वह अपनी नहीं होती। जैसे बालकपना आपके साथ था, पर वह बिछुड़ गया, ऐसे ही जवानी भी बिछुड़ जायगी, वृद्धावस्था भी बिछुड़ जायगी, रोगावस्था भी बिछुड़ जायगी, नीरोगावस्था भी बिछुड़ जायगी, निर्धनता भी बिछुड़ जायगी, धनवत्ता भी बिछुड़ जायगी। ये सब बिछुड़नेवाली चीजें हैं।

विचार करें, क्या यह शरीर बिछुड़नेवाला नहीं है? क्या धन-सम्पत्ति बिछुड़नेवाली नहीं है? क्या घर, जमीन, रुपये,

कुटुम्ब आदि बिछुड़नेवाले नहीं हैं? क्या ये आपसे अलग नहीं होंगे? क्या आप इनसे अलग नहीं होंगे? अभी आपके जितने साथी हैं, क्या ये सदा आपके साथ रहेंगे? जो आपसे अलग होनेवाले हैं, उनकी सेवा करो, उनको सुख-आराम पहुँचाओ, उनसे अच्छा बर्ताव करो। सदा साथ रहनेवाले एक भगवान् ही हैं। उनको आप चाहे सगुण मानो, चाहे निर्गुण मानो, चाहे द्विभुज मानो, चाहे चतुर्भुज मानो, आपकी जैसी मरजी हो, वैसा मानो। वे ही सदा साथ रहनेवाले हैं। उनके सिवाय और कोई साथ रहनेवाला नहीं है। उनके सिवाय सब बिछुड़नेवाले हैं। अच्छे-अच्छे सन्त-महात्माओंका भी शरीर नहीं रहा, फिर आपका शरीर कैसे रह जायगा? आज दिनतक ऐसी रीत चली आ रही है, अब क्या कोई नयी रीत हो जायगी? जानेवालेमें मोह मत करो। मोह करोगे तो रोना पड़ेगा।

हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं। हम और किसीके नहीं हैं, और कोई हमारा नहीं है। इस बातको आज मान लो तो आज ही सुखी हो जाओगे। सेवा करनेके लिये सब अपने हैं। सब भगवान्‌के प्यारे हैं, इसलिये सबकी सेवा करो। भगवान्‌ने कहा है—‘***सब मम प्रिय सब मम उपजाए***’ (मानस, उत्तर० ८६। २)। सबकी सेवा करो, पर किसीको अपना मत मानो। आपका रोना, दु:ख छूट जायगा। अगर आपसे मोह न छूटे तो सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारो कि हे नाथ! हे मेरे नाथ! मैं आफतमें फँस गया! मेरी यह आफत छुड़ाओ! भगवान् अवश्य छुड़ा देंगे।

❑ ❑

३ —— सब कुछ परमात्माका है ——

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है। हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

सृष्टिमात्रमें इन आठ चीजोंके सिवाय कुछ नहीं है। ये आठों परमात्माकी प्रकृति (स्वभाव) होनेसे परमात्माका ही स्वरूप हैं। पंचमहाभूतोंसे बना हुआ शरीर और मन, बुद्धि तथा अहंकार भी भगवान्‌के ही हुए। इनको हम अपना मान लेते हैं—यही गलती है। जीव भी परमात्माकी प्रकृति होनेसे परमात्माका ही स्वरूप हुआ। आप विचार करें, आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति, जीव और परमात्मा—इन दसके सिवाय और क्या है? सब कुछ परमात्मा ही हुए—'सब जग ईश्वररूप है' '**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब-के-सब परमात्माके हैं। इनको अपना मानकर ही हम बन्धनमें पड़े हैं। इनको अपना मत मानो तो आपको बन्धन बिलकुल नहीं होगा। आप मनको सर्वथा भगवान्‌का ही मान लो तो मनके विकार आपको नहीं लगेंगे।

मनके सुख-दुःख आपको नहीं लगेंगे। जब सब कुछ भगवान्‌का ही है, आपका कुछ है ही नहीं, फिर आपका किसीसे क्या लेना-देना? आपका काम यही है कि भगवान्‌की प्रकृतिको अपना मत मानो। मनको अपना मत मानो, बुद्धिको अपना मत मानो, अहंकारको अपना मत मानो। यह काम आप चाहे अभी करो, चाहे वर्षोंके बाद अथवा जन्मोंके बाद करो! इन वस्तुओंको अपना मानते ही आपपर आफत आयेगी! नहीं तो कुत्तेके मनका विकार आपको लगता है क्या? मनको अपना मानते ही विकार लगता है। इतनी ही बात आपको समझनी है! मैं आपको यही बात कहना चाहता हूँ कि सम्पूर्ण जगत् परमात्माका स्वरूप है। इसलिये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकारको आप अपना मत मानो। इनको भगवान्‌के अर्पित करनेमें क्या बाधा है? किंचिन्मात्र भी बाधा नहीं है; क्योंकि सब वस्तुएँ हैं ही भगवान्‌की। उनको अपना मानना ही गलती है, जिसके फलस्वरूप पाप-पुण्य तथा जन्म-मरण होते हैं। उनको अपना मत मानो तो कोई बन्धन नहीं रहेगा, कल्याण हो जायगा।

किसीको अपना मानने या न माननेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है, परतन्त्र है ही नहीं। आप धर्मशालामें रहते हैं, सब काम करते हैं, पर भीतरसे मानते हैं कि यह मेरा नहीं है। राजकीय वस्तुको कोई अपनी मान लेता है तो उसको दण्ड मिलता है। उसको अपनी न मानकर उचित व्यवहार करे तो दण्ड क्यों मिलेगा? अगर आपको अपना कल्याण करना है, जन्म-मरणमें नहीं जाना है तो इतनी-सी बात मान लो कि सब वस्तुएँ भगवान्‌की हैं, मेरी नहीं हैं। भगवान् भी कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

(गीता ७। ७)

'हे धनंजय! मेरे सिवाय इस जगत्‌का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है।'

अगर अपना उद्धार करना हो तो सच्ची बातको स्वीकार कर लो कि सब कुछ भगवान्‌का है। स्वीकार करना या न करना आपकी मरजीके अधीन है। शरीरको आपने अपना मान लिया, पर यह आपका है नहीं। एक दिन शरीर छूट जायगा, मर जायगा और लोग इसको जला देंगे। जैसे मरनेके समय यह आपके साथ नहीं रहेगा, ऐसे अब भी यह आपके साथ नहीं है। इतनी-सी बात आप स्वीकार कर लो तो सब काम ठीक हो जायगा। आप कह सकते हैं कि हमारेसे स्वीकार नहीं होता। परन्तु यह बात आपके भीतर खटकनी चाहिये कि स्वीकार क्यों नहीं होता! इसपर आपका वश चलता है क्या? इसका रात-दिन विचार होना चाहिये। फिर स्वीकार हो जायगा। कारण कि सच्ची बात मिट नहीं सकती। दो और दो चार ही होंगे, तीन या पाँच नहीं हो सकते। आप मकानको अपना मानते हो, पर जब उसको बेच देते हो, तब उसको अपना मानते हो क्या? आप खुद विचार करो कि कौन-सी बात सच्ची है! सच्ची बातको स्वीकार करनेमें बाधा क्या है? आपके मनमें उत्कण्ठा होनी चाहिये कि अब तो मैं सच्ची बात मानूँगा। चाहे आज मानो, चाहे वर्षोंके बाद मानो, चाहे जन्मोंके बाद मानो, कभी-न-कभी सच्ची बातको मानना ही पड़ेगा। जबतक सच्ची बातको नहीं मानोगे, तबतक सुखी नहीं हो सकते। दुःख पाना ही पड़ेगा। सच्ची बातको माने बिना पिण्ड नहीं छूटेगा। जब सच्ची बात माने बिना कभी शान्ति मिलेगी नहीं, तो फिर झूठी बात क्यों मानें? जब कभी कल्याण होगा तो सच्ची बातको माननेसे ही होगा।

रामानंद आनंद से सिंवरया सरसी काज।
भावे सिंवरो काल ही, भावे सिंवरो आज॥

यह आपके कल्याणकी बात है, इसलिये आपके हितके लिये ही कहता हूँ। आप मान लोगे तो मेरेको क्या मिल जायगा? आप नहीं मानोगे तो मेरेको क्या घाटा पड़ जायगा? मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप सच्ची बात मान लो। सच्ची बातको पहले स्वीकार कर लो, फिर वह वैसी ही दीखने लग जायगी। मन-बुद्धि आदि सबको भगवान्‌का मान लो तो आपका सांसारिक व्यवहार भी बढ़िया होगा। किसी प्रकारका कोई नुकसान नहीं होगा। अगर आपको विश्वास न होता हो तो मेरेसे सौदा कर लो, जो नफा होगा, वह आपका और जो नुकसान होगा, वह मेरा! आप यह तो कह सकते हैं कि बात हमारे माननेमें नहीं आती, पर बात यह सच्ची है, यह तो आप स्वीकार कर ही सकते हैं। स्वीकार करनेमें क्या नुकसान है?

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। दुर्लभ होनेके कारण यह बात हमारे माननेमें नहीं आती तो कोई हर्ज नहीं। आपके भीतर यह इच्छा जाग्रत् रहनी चाहिये कि यह बात हमारे माननेमें कैसे आये! एकान्तमें, अकेले बैठकर विचार करो। सच्ची बातको स्वीकार कर लो तो जिसको भगवान्‌ने दुर्लभ महात्मा कहा है, वह महात्मा आप बन जाओगे। सच्ची बातको काटनेकी चेष्टा न करके जाननेकी चेष्टा करो। आपका व्यवहार भी ठीक हो जायगा, परमार्थ भी ठीक हो जायगा। सच्ची बातको स्वीकार कर लो तो वह माननेमें आ ही जायगी, चाहे आज आ जाय या दिनोंके बाद, महीनोंके बाद अथवा वर्षोंके बाद! सच्ची बात

अनुभवमें आयेगी ही—यह नियम है। इसलिये सच्ची बातको आज ही और अभी स्वीकार कर लो।

सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस बातको स्वीकार करना है। सच्ची बातको स्वीकार करनेमें हिम्मत नहीं हारनी चाहिये। आप मानो चाहे नहीं मानो, सच्ची बात अन्तमें सच्ची ही रहेगी। अगर आप मान लो तो बड़ा भारी लाभ है। अगर आज मान लो और आज ही मृत्यु हो जाय तो भी मानी हुई बात नष्ट नहीं होगी। सच्ची बातकी जितनी स्वीकृति हो गयी, उतनी स्वीकृति किसी भी जन्ममें मिटेगी नहीं। किसी भी जन्ममें जाओ, वहीं तैयार मिल जायगी—'**पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः**' (गीता ६। ४४)। सच्ची बात आपने जितनी स्वीकार कर ली, उतनी आपके पास पूँजी हो गयी। अब वह कभी मिटेगी नहीं। सत्संगके संस्कार कभी मिटते नहीं। आप चाहें तो इसी जन्ममें सच्ची बातकी स्वीकृति हो जायगी। सच्ची बात कभी मिटती नहीं और झूठी बात टिकती नहीं। हरदम इस बातका मनन करो कि सच्ची बात यही है तो चट काम हो जायगा। जैसे दूर कोई मन्दिर हो और वहाँ जानेका सीधा रास्ता हो तो हम वहाँ पहुँच ही जायँगे। ऐसे ही हमें '**वासुदेवः सर्वम्**' (सब कुछ परमात्मा ही है)—यहाँतक पहुँचना है। कारण कि अन्तिम, सर्वश्रेष्ठ और सच्ची बात यही है। यह भगवान्‌के वचन हैं। भगवान्‌के समान हमारा सुहृद् कोई है नहीं, हो सकता नहीं। इसलिये इस बातको आप सरलतासे, सच्चे हृदयसे अभी स्वीकार कर लो।

❑ ❑

४ —— सच्ची बात ——

एक साधकका प्रश्न आया है कि सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात बुद्धिसे तो समझमें आती है, पर इसका स्वयंसे अनुभव कैसे हो? स्वयंसे अभी अनुभव न हो तो कोई बात नहीं, चिन्ता मत करो। बुद्धिसे भी समझमें आये या न आये, आप इतना मान लो कि बात यही सच्ची है। हमारे अनुभवमें नहीं आयी, समझमें नहीं आयी तो भी बात तो यही है। हमारी समझमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसलिये सच्ची बात अवश्य बैठेगी, हटेगी नहीं। और किसीके कहनेसे माननेमें न आये तो मेरे कहनेसे मान लो। इसमें अभ्यास नहीं है। अभ्याससे अनुभव नहीं होता; क्योंकि अभ्यास जड़से होता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके बिना अभ्यास नहीं होता। जड़से चेतनकी प्राप्ति नहीं होती। चेतनकी प्राप्ति चेतनसे ही होती है। जड़से सांसारिक काम होता है। परमात्माको तो केवल मानना है, स्वीकार करना है; क्योंकि वह तो है ही ऐसा! यह गंगाजी है—इसमें अभ्यास क्या है? पहले हम इसको एक नदी मानते थे। अब किसीने बता दिया कि यह गंगाजी है तो माननेमें क्या जोर आया? ऐसे ही मान लो कि यह सब परमात्मा है। हमें अनुभव हो या न हो, बुद्धिमें आये या न आये, पर सच्ची बात तो सच्ची ही रहेगी। उसको कोई झूठी कर सकता ही नहीं। कम-से-कम सत्संग करनेवाले भाई-बहन तो इस बातको मान ही सकते हैं।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको स्वीकार कर लो, बस, और कुछ नहीं करना है। स्वीकार करनेमात्रसे काम हो जायगा; क्योंकि बात है ही ऐसी। यह किसीकी बनायी हुई नहीं है। यह सब परमात्मा है—यह कच्ची बात नहीं है, पक्की बात है। इसलिये इसमें सन्देह, संशय करनेकी जरूरत नहीं है। इसको एक बार मान लिया तो बस, मान ही लिया! मनुष्य अग्निकी

साक्षीमें विवाह करता है। ब्राह्मण कन्यासे कह देता है कि बेटी! तेरे पति ये हैं तो बस, वह उसको सदाके लिये अपना पति मान लेती है। अपना पति मानते ही उसका गोत्र बदल जाता है। फिर वह माँ बन जाती है, दादी बन जाती है, परदादी बन जाती है। पोते-परपोतेकी बहू आती है तो दादीजी कहती हैं—'**घर खोयो पराई जायी**' इस परायी जायी (पराये घरमें जन्मी) छोकरीने मेरा घर खो दिया, घर बिगाड़ दिया! अब उस दादीजीसे पूछो कि माँजी! आप तो घरजायी हो? दादीजीको याद ही नहीं है कि मैं भी परायी जायी हूँ! वह तो यही देखती है कि मैं दादी-परदादी हूँ और यह मेरा पोता-परपोता है, यह मेरा कुटुम्ब है! इसी तरह आप सच्ची बातको स्वीकार कर लो, फिर सब कुछ हो जायगा। भीतरसे स्वीकार कर लो कि यह सब कुछ भगवान् ही हैं। स्वीकृति करनेमें शरीरकी कोई जरूरत नहीं है। शरीर बीमार हो या स्वस्थ, स्वीकृति करनेमें कोई बाधा नहीं लगती। सब कुछ परमात्मा ही हैं—यह स्वीकार कर लो तो 'संसार है'—यह भावना मिट जायगी और परमात्मा ही रह जायँगे, जो कि वास्तवमें हैं।

एक कहानी है। एक लड़का मुंबईमें रहता था। उसके पिताजी दूर गाँवमें रहते थे। एक बार वह लड़का बीमार हो गया। पिताको बीमारीका समाचार मिला तो विचार किया कि चलो, जाकर मिल आयें। दैवयोगसे वे जिस धर्मशालामें ठहरे थे, उनका लड़का भी उसी धर्मशालामें पासवाले कमरेमें ठहर गया। लड़केको बड़ी खाँसी आ रही थी। पिताने व्यवस्थापकको बुलाया और उससे कहा कि पासवाले कमरेमें कोई व्यक्ति खाँस रहा है, जिससे मेरेको नींद नहीं आती, इसको यहाँसे निकालो। व्यवस्थापकने उस लड़केको निकाल दिया। दूसरा कोई कमरा खाली था नहीं। अतः वह लड़का बेचारा बाहर जाकर बैठ गया। सुबह होनेपर पिता बाहर निकला। बाहर लड़केको बैठा हुआ

देखा तो बोला! अरे! यह तो मेरा बेटा है! वह उसको अपने कमरेमें ले गया। जो लड़का पड़ोसमें नहीं सुहाता था, उसको अब वह अपने कमरेमें ले गया! पहले पता नहीं था कि यह मेरा ही बेटा है, अब पता लग गया तो इसमें क्या देरी लगी? क्या अभ्यास करना पड़ा? ऐसे ही आप मेरे कहनेसे मान लो कि यह सब परमात्मा ही है।

गेहूँके खेतमें अनजान आदमीको घास दीखती है, पर जानकार आदमीको गेहूँ दीखता है। कारण कि मूलमें वह गेहूँ ही था और अन्तमें उसमेंसे गेहूँ ही आयेगा। ऐसे ही इस सृष्टिके आरम्भमें भी परमात्मा ही थे और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे, फिर बीचमें दूसरी चीज कहाँसे आयी? एक परमात्मा ही अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। इसलिये मन भी वही है, बुद्धि भी वही है, प्राण भी वही है, इन्द्रियाँ भी वही है, शरीर भी वही है। स्थूलशरीर भी वही है, सूक्ष्मशरीर भी वही है और कारणशरीर भी वही है। सब कुछ वह परमात्मा ही है। दूसरा कोई है ही नहीं। आपको दीखे या न दीखे, केवल यह मान लें कि परमात्मा ही हैं। फिर दीखने लग जायगा; क्योंकि वास्तवमें है ही वही। इसमें कोई असत्य नहीं है, ठगाई नहीं है, धोखा नहीं है। बिलकुल सच्ची बात है। साक्षात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। भगवान्‌ने सृष्टि बनायी तो कहींसे बिल्टी नहीं मँगाई, कहींसे वस्तुएँ नहीं मँगायीं। आप ही आपमेंसे बन गये। एक ही अनेकरूपसे प्रकट हो गये—'**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**' (तैत्तिरीय० २। ६)। वे एक भगवान् इतने रूपोंमें हो गये कि उनकी गणना नहीं कर सकते—

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

(मानस, बाल० २०१)

हरि की लीला बड़ी अपार।
बन गये आप अकेले सब कुछ, नाम धरा संसार॥
मात पिता गुरु स्वामी बनकर, करे डाँट फटकार।
सुत दारा अरु सेवक बनकर, खूब करे सतकार॥ १॥
कभी रोगका रूप बनाकर, बनते आप बुखार।
कभी वैद्य बन दवा खिलाते, आप करे उपचार॥ २॥
कभी भोग सुख मान बड़ाई, हाजिर में नर नार।
कभी दुखोंका पहाड़ पटकते, मचती हाहाकार॥ ३॥
कभी संत बनकर जीवों पर, कृपा दृष्टि विस्तार।
अगनित जनमों का दुख संकट, छन महँ देवे टार॥ ४॥
कभी धरनि पर संतन के हित, धर मानुष अवतार।
अजब अनोखी लीला करते, सुमिरत हो भव पार॥ ५॥
अगनित स्वाँग रचाते हरदम, धन्य बड़े सरकार।
ऐसे परम कृपालू प्रभूको, बिनवउँ बारम्बार॥ ६॥

भगवान् ही अनेक रूपोंमें लीला कर रहे हैं। न मैं है, न तू है, न यह है, न वह है। एक भगवान् ही हैं। मैं भी वही है, तू भी वही है, यह भी वही है, वह भी वही है। उनके सिवाय दूसरा कहाँसे आये? कैसे आये? दूसरा कोई है ही नहीं।

एक साधु थे। वे कहीं जा रहे थे। रास्तेमें लघुशंका करनेके लिये वे एक खेतमें बैठ गये। खेतके मालिकने देखा कि जो हमारे खेतसे मतीरा चुराता है, वह यही है। उसने आकर पीछेसे लाठी मार दी। जब देखा कि ये तो बाबाजी हैं तो माफी माँगने लगा। बाबाजी बोले कि तुमने मेरेको मारा ही नहीं, तुमने तो चोरको मारा है। वह बोला—अब क्या करूँ महाराज! बाबाजी बोले—अब तेरी जैसी मरजी! वह बाबाजीको गाड़ीमें बिठाकर शहरमें ले गया। उनकी मलहम-पट्टी करायी। बादमें एक दूसरा आदमी दूध लेकर आया और बोला कि महाराज! दूध पी लो। बाबाजी बोले—तू बड़ा अजीब है! कभी लाठी मारता है, कभी

दूध लाता है! तेरी लीला विचित्र है! वह आदमी बोला कि नहीं महाराज! मैंने लाठी नहीं मारी! बाबाजी बोले कि तू बता, दूसरा आया कहाँसे? तू ही था, मैं जानता हूँ! वह आदमी घबड़ा गया कि बाबाजी मेरेको पकड़ा देंगे, फँसा देंगे! वह बार-बार कहे कि महाराज! मैंने नहीं मारा, पर बाबाजी उसकी बात माननेको राजी नहीं थे। बाबाजी यही कहते कि मैं जानता हूँ, तू ही था! यह सब तेरा ही काम है। बाबाजीकी दृष्टि भगवान्‌पर थी। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई कहाँसे आये?

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह 'अपरा प्रकृति' है और जीव 'परा प्रकृति' है। ये दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वभाव होनेसे भगवत्स्वरूप ही हैं। इसलिये सब रूपोंमें भगवान्‌को देखकर मस्त हो जाओ! हरदम मौजमें रहो, आनन्दमें रहो! वाह, प्रभु वाह! आनन्द हो गया, कृपा हो गयी कि सब जगह, सब समय आपके ही दर्शन हो रहे हैं! पहले हम इस बातको जानते नहीं थे, अब आपकी कृपासे यह बात मिल गयी! अब पता लग गया कि प्रभो! आप ही हो, आप ही हो, आप ही हो! जड़ भी आप ही हो, चेतन भी आप ही हो। स्त्री भी आप ही हो, पुरुष भी आप ही हो। माँ भी आप ही हो, बाप भी आप ही हो। दादी भी आप ही हो, दादा भी आप ही हो। हमारे सब कुटुम्बी आप ही हो। पशु भी आप ही हो, पक्षी भी आप ही हो। जलचर-नभचर-थलचर भी आप ही हो। उद्भिज्ज-स्वेदज-अण्डज-जरायुज भी आप ही हो। आप ही नदी हो, आप ही पहाड़ हो, आप ही समुद्र हो। आप ही सूर्य हो, आप ही चन्द्रमा हो, आप ही तारा हो। आप ही मनुष्य हो,आप ही असुर हो। आप ही भूत-प्रेत हो, आप ही राक्षस हो, आप ही देवता हो। मैं भी आप ही हूँ, तू भी आप ही हो, यह भी आप ही हो, वह भी आप ही हो। ऊपर भी आप ही हो, नीचे भी

आप ही हो। पूर्वमें भी आप ही हो, पश्चिममें भी आप ही हो, उत्तरमें भी आप ही हो, दक्षिणमें भी आप ही हो। ईशानमें भी आप ही हो, नैर्ऋत्यमें भी आप ही हो, आग्नेयमें भी आप ही हो, वायव्यमें भी आप ही हो। भूतकाल भी आप ही हो, वर्तमानकाल भी आप ही हो, भविष्यकाल भी आप ही हो। कालसे अतीत भी आप ही हो। जंगल भी आप ही हो, मैदान भी आप ही हो। इस मण्डप (पण्डाल)–के रूपमें भी आप ही हो। बत्ती भी आप ही हो, पंखा भी आप ही हो। खम्भा भी आप ही हो, वृक्ष भी आप ही हो। मकानरूपमें भी आप ही हो। जो दीखता है, वह भी आप ही हो और जो नहीं दीखता है, वह भी आप ही हो। सिंहरूपमें भी आप ही हो, रीछरूपमें भी आप ही हो, बन्दररूपमें भी आप ही हो। साधुरूपमें भी आप ही हो, गृहस्थरूपमें भी आप ही हो। अन्नरूपमें भी आप ही हो। तरह–तरहके फलोंके रूपमें भी आप ही हो। भूखमें भी आप ही हो, प्यासमें भी आप ही हो। सोते हुए भी आप ही हो, बैठे हुए भी आप ही हो।

तरह–तरहके रूपोंमें आप ही हो। आपके सिवाय कोई है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। सब रूपोंमें केवल आप–ही–आप हो। राग–रागिनी भी आप ही हो। ताल–स्वर भी आप ही हो। बाजा भी आप ही हो। गानेवाले भी आप ही हो, सुननेवाले भी आप ही हो। वक्ता भी आप ही हो, श्रोता भी आप ही हो। गाँव भी आप ही हो, घर भी आप ही हो। मिट्टी भी आप ही हो, बर्तन भी आप ही हो। अस्त्र–शस्त्र भी आप ही हो। खेल भी आप ही हो, खेलनेवाले भी आप ही हो, खिलौने भी आप ही हो। हे प्रभो! आपने कैसे–कैसे रूप धारण किये हैं। कितने–कितने रूप धारण किये हैं! अनन्त–अनन्त रूपोंमें केवल आप ही हो! आप ही हो!

❑ ❑

५ —— परमात्मप्राप्तिमें देरी क्यों? ——

परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य लेकर चलनेवाले जितने भी मनुष्य हैं, उन सबको परमात्मप्राप्ति होगी, पर कब होगी? कितने जन्मोंके बाद होगी? इसका पता नहीं है। शरीरको अपना और अपने लिये मानते हुए कोई साधन करेगा तो उसको कितने जन्म लेने पड़ेंगे, कितनी योनियाँ भोगनी पड़ेंगी, इसका कुछ पता नहीं है। इसलिये मेरी शुरूसे यही लगन रही है कि मनुष्यको जल्दी परमात्मप्राप्ति कैसे हो? यद्यपि किया हुआ साधन निरर्थक नहीं जाता, तथापि परमात्माकी प्राप्ति जल्दी कैसे हो, यह लगन होनी चाहिये। लगन नहीं होगी तो कई जन्म लग जायँगे। जो वस्तु कल मिलेगी, वह आज मिलनी चाहिये, आज भी अभी मिलनी चाहिये। परमात्मा भी मौजूद हैं, आप भी मौजूद हैं, फिर देरी किस बातकी? परमात्मप्राप्तिमें देरीकी बात मेरेको सुहाती नहीं। जो काम जल्दी हो सके, उसके लिये देरी क्यों? जो काम अभी हो सके, उसके लिये कल क्यों?

श्रीशरणानन्दजी महाराजने लिखा है कि जीव-ब्रह्मकी एकता कभी हुई नहीं, कभी हो सकती नहीं। इसका तात्पर्य है कि जीवपना छूटनेपर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यह सूक्ष्म विवेचन है। इसी तरह कहा जाता है कि साधुको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, गृहस्थको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, ब्राह्मणको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती तो इसका तात्पर्य है कि साधुपनेका अभिमान रहते हुए परमात्मप्राप्ति नहीं होती। ब्राह्मणपनेका अभिमान रखते हुए परमात्मप्राप्ति नहीं होती। अभिमान छूटेगा, तब प्राप्ति होगी। इन सब बातोंको कहनेका तात्पर्य यही है कि

परमात्मप्राप्तिमें देरी मत करो। आपके कैसे ही पाप-ताप हों, आप कितने ही दुर्गुणी-दुराचारी हों, पर आपकी लगन लग जाय तो आज परमात्मप्राप्ति हो सकती है।

साध्यकी प्राप्ति साधकको ही हो सकती है, ब्राह्मण, साधु आदिको कैसे होगी? ब्राह्मणको ब्राह्मण-कन्या विवाहके लिये मिल सकती है, पर परमात्मा कैसे मिलेंगे? साधुको भिक्षा मिल सकती है, पर परमात्मा कैसे मिलेंगे? शरीरधारीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। साधक शरीरधारी नहीं होता और शरीरधारी साधक नहीं होता। अपनेको पुरुष या स्त्री मानेंगे तो परमात्मप्राप्ति कैसे होगी? मैं स्त्री या पुरुष हूँ ही नहीं, मैं तो भगवान्‌का हूँ—ऐसा भाव होगा तो बहुत जल्दी कल्याण हो जायगा। अपनेको स्त्री या पुरुष मानना तो सांसारिक व्यवहार (मर्यादा)-के लिये है। परन्तु पारमार्थिक मार्गमें अपनेको स्त्री या पुरुष मानेंगे तो बहुत देरी लगेगी। चिन्मयकी प्राप्ति चिन्मयको ही होगी, जड़को कैसे हो जायगी?

समताकी प्राप्तिको बहुत ऊँचा बताया गया है। सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने लिखा है कि गीताके अनुसार अगर समता आ गयी तो दूसरे लक्षण भले ही न आयें, परमात्मप्राप्ति हो जायगी और समता नहीं आयी तो भले ही दूसरे बड़े-बड़े लक्षण आ जायँ, परमात्मप्राप्ति नहीं होगी। वह समता ममताका त्याग करते ही आ जाती है!

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।

(दोहावली ९४)

श्रीशरणानन्दजी महाराजने साफ लिखा है कि ममताको

छोड़ते ही समता आ जायगी। दूसरी बात उन्होंने लिखी है कि अपने लिये तप करना भी भोग है और परमात्माके लिये झाड़ू लगाना भी पूजा है! हिरण्यकशिपुने कितनी कठोर तपस्या की! ब्रह्माजीने भी कह दिया कि ऐसी तपस्या आजतक किसीने नहीं की। परन्तु उसको तपस्यासे क्या परमात्मप्राप्ति हो गयी? उसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य ही नहीं था। इन बातोंका तात्पर्य परमात्मप्राप्ति जल्दी करनेमें है।

अगर परमात्माकी प्राप्ति करना चाहते हो तो अपनेको स्त्री या पुरुष न मानकर अपना सम्बन्ध परमात्माके साथ जोड़ो। शरीर तो मिला है और बिछुड़ जायगा। इस शरीरमें ही आप अटक जाओगे तो फिर परमात्मप्राप्ति कैसे होगी? परमात्माकी प्राप्ति तब होगी, जब परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़ोगे। कोई कपूत हो या सपूत हो, पूत तो वह है ही। कपूत भी बेटा है, सपूत भी बेटा है। अतः हम कैसे ही हों, अच्छे हों या मन्दे हों, परमात्माके ही हैं। परमात्माकी प्राप्ति न स्त्रीको होती है, न पुरुषको होती है। विवाह करना हो तो अपनेको स्त्री-पुरुष मानो। स्त्रीको पुरुष मिलेगा, परमात्मा कैसे मिलेंगे? पुरुषको स्त्री मिलेगी, परमात्मा कैसे मिलेंगे? परमात्मा तो साधकको मिलेंगे। साधक स्वयं होता है, शरीर नहीं होता। मुक्ति भी स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं होती। अतः हम न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, प्रत्युत हम परमात्माके हैं। परमात्मा हमारे हैं। हम और किसीके नहीं हैं। और कोई हमारा नहीं है। जिसको प्राप्त करना हो, उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिये। इसलिये परमात्माके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ो। परमात्माकी प्राप्तिमें स्त्रीपना और

पुरुषपना—दोनों ही बाधक हैं। अपनेको स्त्री या पुरुष माननेवाला तो शरीरमें ही बैठा है, फिर उसको परमात्मा कैसे मिलेंगे? मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह मान लो तो बड़ा भारी काम हो गया! यह मामूली साधन नहीं हुआ है। भगवान्‌की और आपकी जाति एक हो गयी, जो कि वास्तवमें है।

जाति, कुल, विद्या, सम्प्रदाय आदिका अभिमान परमात्माकी प्राप्तिमें बहुत बाधक है। भगवान् जिस जातिके हैं, उसी जातिके हम हैं। भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है, बाकी सब सम्बन्ध नकली हैं। हम भगवान्‌के अंश हैं—‘**ममैवांशो जीवलोके**’ (गीता १५। ७)। हम संसारके अंश नहीं हैं। हम साक्षात् भगवान्‌के बेटा-बेटी हैं। सांसारिक स्त्री-पुरुष तो हम बादमें बने हैं—‘***सो मायाबस भयउ गोसाईं***’ (मानस, उत्तर० ११७। २)।

यहाँ शंका हो सकती है कि ‘मैं भगवान्‌की बेटी हूँ’—ऐसा माननेसे अपनेमें स्त्रीभाव रह जायगा! वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अगर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध माननेसे स्त्रीभाव रह भी जाय तो वह मिट जायगा। भगवान्‌का सम्बन्ध ऐसा विलक्षण है कि सभी सम्बन्धोंको काट देता है। कारण कि सब सम्बन्ध झूठे हैं, पर भगवान्‌का सम्बन्ध सच्चा है। भगवान्‌ने कहा है कि जीव केवल मेरा ही अंश है—‘**ममैवांशो जीवलोके**’। सच्ची बातके आगे झूठी बात कैसे टिकेगी? परन्तु आप ‘मैं स्त्री हूँ या मैं पुरुष हूँ’—इस बातको ही महत्त्व देते रहोगे तो यह कैसे मिटेगा? ‘***जदपि मृषा छूटत कठिनई***’। इसलिये एक भगवान्‌के सिवाय दूसरेका सर्वथा निषेध कर दो—‘***मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई***’। भगवान् मिलें चाहे

उम्रभर न मिलें, दर्शन दें चाहे न दें, पर हम तो भगवान्‌के ही हैं। भरतजी कहते हैं—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

(मानस, अयोध्या० २०५। १)

हम जैसे हैं, भगवान्‌के हैं। अच्छे हैं तो भगवान्‌के हैं, बुरे हैं तो भगवान्‌के हैं। जैसे विवाहित स्त्री भीतरसे अपनेको कुँआरी नहीं मान सकती, इसी तरह भक्त भगवान्‌के सिवाय दूसरेको अपना मान सकता ही नहीं। झूठी बात कैसे माने? भगवान्‌को हरेक आदमी अपना मान सकता है। पापी-से-पापी, दुष्ट-से-दुष्ट आदमी भी भगवान्‌को अपना मान सकता है। कारण कि यह मान्यता सच्ची है, दूसरी सब मान्यताएँ झूठी हैं। आपको हजारों आदमी कह दें कि तुम भगवान्‌के नहीं हो तो उनसे यही कहें कि आपको पता नहीं है। भगवान् भी कह दें कि तुम हमारे नहीं हो तो उनसे कहें कि आपको भूल हो सकती है, पर मेरेको भूल नहीं हो सकती! इतना पक्का विचार होना चाहिये!

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, अरण्य० ११। ११)

इस तरह दृढ़तासे भगवान्‌में अपनापन हो जाय तो फिर परमात्मप्राप्तिमें देरी नहीं लगेगी।

❑ ❑

६ —— कल्याणका निश्चित उपाय ——

भगवान्‌ने जीवपर कृपा करके उसको अपना कल्याण करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है। अपना कल्याण करनेके सिवाय मनुष्यजन्मका दूसरा कोई प्रयोजन है ही नहीं। शरीर, धन-सम्पत्ति, जमीन-मकान, स्त्री-पुत्र आदि जितनी भी सांसारिक वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब मिलने और बिछुड़नेवाली हैं। अतः कोई कितना ही बड़ा धनवान् बन जाय, बलवान् बन जाय, विद्वान् बन जाय, ऊँचे पदवाला बन जाय, बड़े कुटुम्बवाला बन जाय, पर अपने कल्याणके बिना ये सब-की-सब वस्तुएँ अपने कुछ काम न आयेंगी। बिना दूल्हेकी बरातकी तरह सम्पूर्ण सांसारिक भोग व्यर्थ हैं। इसलिये मनुष्यका खास कर्तव्य है—अपना कल्याण करना।

एक मार्मिक बात है कि अपना कल्याण करनेमें मनुष्यमात्र सर्वथा स्वतन्त्र है, समर्थ है, योग्य है, अधिकारी है। कारण कि भगवान् जीवको मनुष्यशरीर देते हैं तो उसके साथ ही अपना कल्याण करनेकी स्वतन्त्रता, सामर्थ्य, योग्यता और अधिकार भी प्रदान करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य अपना कल्याण करनेके लिये क्या करे? इसका उत्तर है कि यदि मनुष्य इन चार बातोंको दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसका कल्याण हो जायगा—

१- मेरा कुछ भी नहीं है।

२- मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये।

३- मेरा किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

४- केवल भगवान् ही मेरे हैं।

मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तुओंको अपना मानना मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। वास्तवमें अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी अपनी नहीं है। इसलिये 'मेरा

कुछ भी नहीं है'—ऐसा स्वीकार करनेसे जीवनमें निर्दोषता आ जाती है। निर्दोषता आते ही मनुष्य धर्मात्मा हो जाता है।

जब मेरा कुछ है ही नहीं, तो फिर हम किस वस्तुकी चाहना करें? अतः 'मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये'—ऐसा स्वीकार करते ही जीवनमें निष्कामता आ जाती है। निष्कामता आते ही मनुष्य योगी हो जाता है अर्थात् उसको समत्वरूप योगकी प्राप्ति हो जाती है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। कोई भी कामना न होनेसे उसको चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगकी भी प्राप्ति हो जाती है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (योगदर्शन १। २)।

मनुष्यमात्रका स्वरूप स्वतः असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। अतः मिलने और बिछुड़नेवाले किसी भी वस्तु-व्यक्तिके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे मनुष्यको अपनी असंगताका अनुभव हो जाता है। असंगताका अनुभव होनेपर वह ज्ञानी हो जाता है।

जीवमात्र परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। भगवान्‌का अंश होनेके नाते केवल भगवान् ही हमारे हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई हमारा नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌में अपनापन स्वीकार करते ही मनुष्य भक्त हो जाता है।

धर्मात्मा, योगी, ज्ञानी और भक्त होनेमें ही मनुष्यका कल्याण निहित है। ऐसा होनेमें कठिनाई भी नहीं है; क्योंकि वास्तवमें मनुष्यमात्रका स्वरूप स्वतः निर्दोष, निष्काम, असंग और भगवान्‌का अंश है। तात्पर्य है कि हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। उस सत्तामें निर्दोषता, निष्कामता और असंगता स्वतःसिद्ध है और वह सत्ता भगवान्‌का अंश है। इसलिये साधकका कर्तव्य है कि वह उपर्युक्त चारों बातोंको दृढ़तासे स्वीकार कर ले। फिर उसका कल्याण निश्चित है।

❑ ❑

७ —— अभ्याससे बोध नहीं होता ——

हमलोगोंके भीतर एक बात जँची हुई है कि हरेक काम अभ्याससे होता है; अतः तत्त्वज्ञान भी अभ्याससे होगा। वास्तवमें तत्त्वज्ञान अभ्याससे नहीं होता। यह बड़ी मार्मिक और बड़ी उत्तम बात है। अभ्याससे एक नयी स्थिति बनती है, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। यह बहुत मनन करनेकी बात है। यह बात आपको जँचा देना मेरे हाथकी बात नहीं है। परन्तु यह मेरी अनुभव की हुई बात है। अभ्याससे एक स्थिति बनती है, बोध नहीं होता। अभ्यासमें समय लगता है, जबकि परमात्मप्राप्ति तत्काल होनेवाली वस्तु है। जैसे, रस्सेके ऊपर चलना हो तो तत्काल नहीं चल सकते। उसके लिये अभ्यास करना ही पड़ेगा। अभ्यास किये बिना आप रस्सेपर नहीं चल सकते। परन्तु दो और दो चार होते हैं—इसमें अभ्यास होता ही नहीं। तत्त्वज्ञानमें समयकी अपेक्षा है ही नहीं। परन्तु जिसके भीतर अभ्यासके संस्कार हैं, वह इस बातको जल्दी नहीं समझ सकता।

अभ्यास और अनुभवमें बड़ा अन्तर है। अभ्याससे अनुभव नहीं होता, प्रत्युत एक नयी स्थिति बनती है। परमात्मतत्त्व स्थितिसे अतीत है। वह स्थितिसे नहीं मिलता—यह बहुत मार्मिक बात है। परन्तु जिसने ज्यादा लोगोंका सत्संग किया है, ज्यादा पुस्तकें पढ़ी हैं, उनको यह बात समझनेमें कठिनाई होती है। इस बातका मैं भुक्तभोगी हूँ! मैंने काफी पढ़ाई की है और वर्षोंतक अभ्यास किया है, इसलिये मेरेको इस बातका पता है। मैंने योगका अभ्यास किया है, वेदान्तका किया है, व्याकरणका किया

है, काव्यका किया है, साहित्यका किया है, न्यायका किया है! वेदान्तमें आचार्यतककी परीक्षाएँ दी हैं। यद्यपि मैं अपनेको विशेष विद्वान् नहीं मानता, तथापि विद्याका अभ्यास मेरा किया हुआ है। इसलिये मेरे-जैसे व्यक्तिका जल्दी कल्याण नहीं हुआ! जिसके भीतर यह बात जँची हुई है कि अभ्याससे कल्याण होता है, उसका जल्दी कल्याण नहीं होगा।

कल्याणके लिये तीन बातें मुख्य हैं—मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है। इसमें अभ्यास क्या करेंगे? अभ्यास करेंगे तो वर्ष बीत जायँगे, बोध नहीं होगा। अभ्यास न करें तो अभी इसी क्षण बोध हो सकता है, चाहे अन्तःकरण कैसा ही क्यों न हो! आप मानें अथवा न मानें, मेरा कोई आग्रह नहीं है। परन्तु यह मेरी देखी हुई, समझी हुई बात है कि अभ्याससे तत्त्वज्ञान नहीं होता। अभ्याससे आप विद्वान् बन जाओगे, पर तत्त्वज्ञान नहीं होगा। कितना ही अभ्यास करो, पर 'मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है'—ये तीन बातें भीतरसे निकलती नहीं हैं। स्वरूपका बोध अभ्याससे सिद्ध होनेवाली चीज है ही नहीं। अभ्याससे नयी स्थिति बनती है, जबकि तत्त्व स्थितिसे अतीत है। स्थितिमें तत्त्व नहीं होता और तत्त्वमें स्थिति नहीं होती। उसको सहजावस्था कहते हैं, पर वास्तवमें वह अवस्था नहीं है। तत्त्व अवस्थासे अतीत है। अवस्थासे अतीत तत्त्व अभ्याससे नहीं मिलता, प्रत्युत तत्काल मिलता है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही जाननेमें अभ्यास नहीं है। अभ्यासमें मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका सहारा लेना पड़ेगा। तत्त्वबोधमें मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी जरूरत है ही नहीं। तत्त्वबोध वृक्षके फलकी तरह

नहीं है, जिसमें समय लगता है। समय स्थिति बननेमें लगता है। जब अन्तःकरण शुद्ध होगा, मल-विक्षेप-आवरण दोष दूर होंगे, तब बोध होगा—यह प्रक्रिया मेरी की हुई है। वास्तवमें तत्त्वबोधके लिये अन्तःकरण-शुद्धिकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेदकी जरूरत है। केवल तत्त्वप्राप्तिकी चाहना जोरदार बढ़ जायगी तो चट प्राप्ति हो जायगी।

अपने भीतर अभ्यासके संस्कार पड़े हुए हैं, इसलिये प्रत्येक व्यक्तिके भीतरसे यह प्रश्न उठता है कि अब क्या करें? आपने कहा, हमने सुन लिया, अब क्या करें? 'क्या करें?'—यह बाकी रहेगा। अगर तत्काल प्राप्ति चाहते हो तो 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह बात मान लो। एक आदमीने दूसरेसे कहा कि दो और दो कितने होते हैं—इसका सही उत्तर दोगे तो मैं तुम्हें सौ रुपये दूँगा। दूसरेने कहा—चार होते हैं। पहला आदमी बोला कि नहीं होते! वह बार-बार कहे कि दो और दो चार होते हैं, पर पहला आदमी बार-बार यही कहे कि नहीं होते! अब उसको कोई कैसे समझाये? वह समझना ही नहीं चाहता।

आपको इतनी ही बात समझनी है कि मैं शरीर नहीं हूँ। आप 'घड़ी मेरी है'—यह तो कहते हैं, पर 'मैं घड़ी हूँ'—यह नहीं कहते। परन्तु शरीरके विषयमें आप 'शरीर मेरा है'—यह भी कहते हैं और 'मैं शरीर हूँ'—यह भी कहते हैं। 'मैं शरीर हूँ'—यह शरीरके साथ अभेदभावका सम्बन्ध है और 'शरीर मेरा है'—यह शरीरके साथ भेदभावका सम्बन्ध है। आपको कोई एक बात कहनी चाहिये, चाहे अभेदभावका सम्बन्ध कहो, चाहे भेदभावका सम्बन्ध कहो। एक ही शरीरको 'मैं' भी कहना और 'मेरा' भी कहना गलती है।

प्राणी चौरासी लाख योनियोंमें जाता है तो एक शरीरको छोड़ता है, तभी दूसरे शरीरमें जाता है। जब चौरासी लाख योनियोंके शरीर हमारे साथ नहीं रहे तो फिर यह शरीर हमारे साथ कैसे रहेगा? वे शरीर हमारे नहीं हुए तो यह शरीर हमारा कैसे हो जायगा? शरीर तो छूटेगा ही। अतः सीधी-सरल बात है कि शरीर मैं नहीं हूँ। इसमें अभ्यासका काम नहीं है।

जबतक अहंभाव (मैंपन) रहेगा, तबतक बोध नहीं होगा। अहम् मिटनेपर ही ब्राह्मी स्थिति होती है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

(गीता २।७१-७२)

अहंकार अपरा प्रकृति है और स्वयं परा प्रकृति है। परा प्रकृतिका सम्बन्ध परमात्माके साथ है, अपराके साथ नहीं। अहंकारको पकड़नेसे बोध कैसे होगा? बहुत वर्ष पहलेकी बात है। एक बार मैंने कहा कि '**अहं ब्रह्मास्मि**' (मैं ब्रह्म हूँ) कहना ठीक नहीं है; '**अहं ब्रह्मास्ति**' (मैं ब्रह्म है)—ऐसा कहना चाहिये! व्याकरणकी दृष्टिसे ऐसा कहना अशुद्ध है; क्योंकि '**अहम्**' के साथ '**अस्मि**' ही लगेगा, '**अस्ति**' नहीं। परन्तु मेरे कहनेका तात्पर्य था कि '**अहम्**' साथमें रहेगा तो बोध नहीं होगा। '**अहं नास्मि, ब्रह्म अस्ति**' (मैं नहीं हूँ, ब्रह्म है)—ऐसा विभाग कर लो तो समझमें आ जायगा। '**अस्मि**' रहेगा तो अहंकार साथमें रहेगा ही। यह अहंकार अभ्याससे कभी छूटेगा नहीं, चाहे बीसों वर्ष अभ्यास कर लो। यह मार्मिक बात है।

यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु मिलती है और बिछुड़ती है,

वह अपनी नहीं होती। शरीर मिला है और बिछुड़ जायगा, फिर वह अपना कैसे हुआ? परमात्मा मिलने तथा बिछुड़नेवाले नहीं हैं। वे सदासे ही मिले हुए हैं और कभी बिछुड़ते ही नहीं। उनका अनुभव नहीं होनेका दुःख नहीं है, इसीलिये देरी लग रही है। उनकी असली चाहना नहीं है। असली चाहना होगी तो तत्काल प्राप्ति हो जायगी। परमात्मप्राप्ति शरीरादि जड़ पदार्थोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत इनके त्यागसे होती है। मन-बुद्धिकी सहायतासे बोध नहीं होता, प्रत्युत इनके त्यागसे बोध होता है।

योगदर्शनमें अभ्यासका लक्षण बताया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (१।१३)

'किसी एक विषयमें स्थिति प्राप्त करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम अभ्यास है।'

तत्त्वबोध किसी स्थितिका नाम नहीं है। जहाँ स्थिति होगी, वहाँ गति भी होगी—यह नियम है। तत्त्व स्थिति और गति—दोनोंसे अतीत है। तत्त्वमें न स्थिति है, न गति है; न स्थिरता है, न चंचलता है। जैसे भूख और प्यासके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता, ऐसे ही तत्त्वकी जिज्ञासाके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। हमारी आदत अभ्यास करनेकी पड़ी हुई है, इसलिये अभ्यासकी बात ही हमें जँचती है।

अभ्यासका मैं खण्डन नहीं करता हूँ। अभ्यास करते-करते और नयी स्थिति होते-होते तत्त्वकी जिज्ञासा होकर उसकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह बहुत लम्बा रास्ता है। कितने जन्म लगेंगे, इसका पता नहीं। अन्तमें भी जब अभ्यास छूटेगा अर्थात् जड़ता (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)-से हमारा सम्बन्ध छूटेगा,

तब तत्त्वप्राप्ति होगी। तत्त्वप्राप्ति जड़ताके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है—यह सिद्धान्त है। जड़ताकी सहायताके बिना अभ्यास हो ही नहीं सकता। अभ्यास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे ही होता है। अतः अभ्यासके द्वारा जड़ताका त्याग नहीं हो सकता। जिसकी सहायतासे अभ्यास करेंगे, उसका त्याग अभ्याससे कैसे होगा? परन्तु अभ्यासकी बात हरेक आदमीके भीतर जड़से बैठी हुई है, इसलिये बोध होनेमें कठिनता हो रही है। बोध होनेमें अभ्यासको हेतु माननेके कारण जल्दी बोध नहीं हो रहा है।

यद्यपि भगवन्नामका जप, कीर्तन, प्रार्थना भी अभ्यासके अन्तर्गत आते हैं, तथापि ये अभ्याससे तेज हैं। कारण कि अभ्यासमें अपना सहारा रहता है, पर जप, प्रार्थना आदिमें भगवान्‌का सहारा रहता है। 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' यह पुकार अभ्याससे तेज है। अभ्यासमें अपने उद्योगसे काम होता है, पर पुकारमें भगवान्‌की कृपासे काम होता है। आप अभी अभ्यासके राज्यमें ही बैठे हुए हैं, आपके संस्कार अभ्यासके हैं, इसलिये आप नामजप, कीर्तन, प्रार्थनामें लग जाओ तो आपको बहुत लाभ होगा।

❑ ❑

८ ——कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्——

मनुष्यमात्रके लिये मुख्य बात है—अपने जीवनका एक उद्देश्य बनाना। वास्तवमें मनुष्यजीवनका उद्देश्य पहलेसे ही बना हुआ है। भगवान्ने जीवको सदाके लिये जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त होकर अपनी प्राप्ति करनेके लिये ही मनुष्यशरीर दिया है और इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये जीवने मनुष्यशरीर लिया है। इसलिये भगवान्को प्राप्त कर लेनेमें ही मनुष्यजन्मकी सार्थकता है। इस कार्यके लिये मनुष्यशरीरके सिवाय दूसरा कोई शरीर है ही नहीं। यद्यपि भगवान्की ओरसे किसीके लिये भी कोई मनाही नहीं है, तथापि मनुष्यशरीर खास भगवत्प्राप्तिके लिये ही है। इस मनुष्यशरीरको पाकर यदि अपना उद्देश्य ठीक नहीं बनाया तो क्या किया! इसलिये सब भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि आप स्वयं अपना उद्देश्य बनायें कि हमें भगवान्को प्राप्त करना ही है। आप चाहे मेरा कहना मान लो, चाहे गीता, रामायण आदि ग्रन्थोंकी बात मान लो, चाहे अन्य किसीकी बात मान लो, सबकी खास बात यही है कि मनुष्यजन्म भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है। भगवत्प्राप्तिके सिवाय मनुष्यजन्मका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। भगवत्प्राप्तिके बिना मनुष्यशरीर भी चौरासी लाख योनियोंकी तरह ही है। इसलिये मनुष्यजन्मके मूल्यको समझें। विचार करें कि मनुष्यजन्म क्यों मिला है? भगवान्ने क्यों दिया है? हमने क्यों लिया है? परमात्मप्राप्तिके बिना मनुष्यजन्मका क्या प्रयोजन है?

मनुष्यजन्म ही एक ऐसा है, जिससे मनुष्य सदाके लिये दु:खोंसे मुक्त हो सकता है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(मानस, उत्तर० ४३)

ऐसे शरीरको प्राप्त करके भी अगर आध्यात्मिक उन्नति नहीं की तो क्या किया? आध्यात्मिक तत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यजन्म मिला है, इसके सिवाय मनुष्यजन्मका और क्या मतलब है? अगर यह भी आपने नहीं किया तो मनुष्य होनेका क्या मतलब हुआ? मनुष्य हो, चाहे कीड़ा-मकोड़ा हो, फर्क क्या हुआ? मनुष्यजन्मकी सार्थकता क्या हुई? परमात्मप्राप्तिके विषयमें आप जोरसे नहीं लगे तो फिर आपने क्या किया? क्या मतलब सिद्ध किया? चाहे भाई हो, चाहे बहन हो, अगर उसने परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य नहीं रखा तो मनुष्यजन्मका क्या मतलब हुआ? नीतिमें एक श्लोक आता है—

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत्।
लक्षं विहाय दातव्यं कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्॥

'सौ काम छोड़कर भोजन करो, हजार काम छोड़कर स्नान करो, लाख काम छोड़कर दान दो और करोड़ काम छोड़कर भगवान्का स्मरण करो।'

तात्पर्य है कि करोड़ काम भी बिगड़ते हों तो बिगड़ जायँ, उनको छोड़कर भगवान्का स्मरण करो। भगवान्का स्मरण करना सबसे मुख्य रहा। भोजनसे, स्नानसे, दानसे भी बढ़कर भगवान्का स्मरण हुआ! भगवान्का स्मरण किये बिना जन्म-मरण नहीं छूट सकता। जन्म-मरण छूटे बिना मनुष्यजन्म किस कामका? लोग

सत्संग छोड़कर जाते हैं तो कारण पूछनेपर कहते हैं कि हमें अमुक-अमुक काम करने हैं, जाना ही पड़ेगा। आनेमें देरी हो जाय तो कहते हैं कि अमुक-अमुक काम आ गया, नहीं तो हम पहले ही आ जाते। इससे यह सिद्ध हुआ कि आपने सत्संगकी अपेक्षा दूसरे कामोंको ज्यादा आदर दिया है। शास्त्र कहता है— '**कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्**' 'करोड़ों काम छोड़कर भी भगवान्‌का स्मरण करो'। क्या आपने करोड़ों काम छोड़कर कभी भगवान्‌का स्मरण किया है? विचार करें कि पारमार्थिक उन्नतिके लिये हमने कितने काम छोड़े हैं? कितने कामोंकी उपेक्षा की है? अपने हृदयपर हाथ रखकर स्वयं सोचो कि क्या हमने पारमार्थिक बातोंका इतना आदर किया है? आप कहते तो हैं कि हम सत्संग करते हैं, हमें आध्यात्मिक उन्नति चाहिये, पर अपने लक्ष्यको ठीक पूरा करनेके लिये क्या आपने ऐसा किया है? क्या ऐसा करनेका विचार है? विचार करनेसे पता लगेगा कि आप कितने पानीमें हैं? हमें परमात्मप्राप्ति नहीं हो रही है, ऐसा कहते तो हैं, पर उसके लिये आपने कितने काम छोड़े हैं?

पारमार्थिक उन्नति इस मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है। कारण कि इसीके लिये यह मनुष्यजन्म मिला है। पर इस कामके लिये आपकी कितनी तत्परता है—इधर ध्यान दो। अपने भीतर विचार करो। शास्त्र कहता है कि करोड़ों काम बिगड़ते हों तो बिगड़ जायँ, पर भगवान्‌का स्मरण मत छोड़ो। इस भगवत्स्मरणको आपने कितना महत्त्व दिया है? इसपर कितना विचार किया है? फिर आपको पता लगेगा कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति कितनी हुई है? हरेक साधकको इस तरह विचार करना चाहिये। यदि

सब काम छोड़कर भगवत्स्मरणको महत्त्व देते तो फिर ऐसा नहीं कहते कि हम इतने वर्षोंसे लगे हुए हैं, परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई! हम भगवत्स्मरणका जितना आदर करते हैं, उसकी अपेक्षा भी भगवान् हमपर विशेष कृपा करते हैं।

प्रश्न—क्या शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म छोड़कर भगवान्का भजन करें?

उत्तर—शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म करना, कुटुम्बका पालन करना, न्यायानुकूल काम करना बहुत अच्छा है, पर भगवत्स्मरणके सामने सब काम गौण हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्तव्य-कर्म करना छोड़ दें। कर्तव्य-कर्म करें, पर भगवान्का स्मरण सबसे मुख्य होना चाहिये। संसारके जितने भी काम हैं, वे सब-के-सब एक दिन बिगड़नेवाले हैं। परन्तु भगवान्का स्मरण कभी बिगड़ेगा नहीं। संसारका कितना ही सुधार कर लो, वह तो बिगड़ेगा। वह सुधर जाय तो बिगड़ गया, बिगड़ जाय तो बिगड़ गया। वास्तवमें तो संसारका काम बिगड़ा हुआ ही है। मनुष्यजन्मकी सफलता भगवान्को प्राप्त करनेमें ही है। भोजन करनेसे, स्नान करनेसे, दान देनेसे मनुष्यजन्म सफल नहीं होगा। मनुष्यजन्म सफल होगा—भगवान्का स्मरण करनेसे। आप स्वयं सोचो कि भगवान्के स्मरणसे बढ़कर क्या काम है?

समस्त कर्तव्योंका मूल कर्तव्य है—भगवान्का स्मरण करना। अन्य सब कर्तव्य इससे नीचे हैं। कहनेमें तो आप कर्तव्य-कर्मकी बात कहते हो, पर वास्तवमें अपनी आयुका नाश कर रहे हो! पर यह बात पढ़ने-सुननेसे समझमें नहीं आती। आप स्वयं सोचोगे, तब समझमें आयेगी। '**कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्**'—यह बात यों ही अँधेरेमें नहीं कही गयी है।

असली कर्तव्य वही है, जिससे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाय। कर्मयोगके पालनसे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाता है। अगर आप संसारसे ऊँचा उठ गये, तब तो आपने कर्तव्यका पालन किया, नहीं तो कर्तव्यको समझा ही नहीं है, केवल समय बरबाद किया है। अगर आपने कर्तव्य-कर्मका ठीक पालन किया होता तो स्त्री-पुत्र, रुपये-पैसेमें मन नहीं जाता। रुपयोंके लिये झूठ, कपट, चालाकी, ठगी नहीं करते। यह नियम है कि कर्तव्य-कर्मका पालन करनेसे मनुष्य संसारसे ऊँचा उठ जाता है और उसे शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके स्पृहारहित, ममतारहित और अहंतारहित होकर आचरण करता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

प्रश्न—अगर कोई बीमार हो तो क्या उसकी सेवा छोड़कर भगवान्‌का भजन करें?

उत्तर—अगर भगवान्‌की सेवा मानकर बीमारकी सेवा करें तो क्या हर्ज है? क्या बाधा लगती है? बीमार व्यक्तिको साक्षात् भगवान् मानकर उसकी सेवा करो। घरके कामको भगवान्‌का काम मानकर करो। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

भगवान्का काम समझकर सब कार्य करो तो वह सब भजन हो जायगा। शौच-स्नान करना भी भगवान्की सेवा है। बालक भोजन कर लेता है तो माँ राजी हो जाती है! भगवान् क्या माँसे भी कम दयालु हैं? एकनाथजी महाराजने भागवतके एकादश स्कन्धकी टीकामें लिखा है कि घरमें झाड़ू देकर कचरा भगवान्के अर्पणकी भावनासे बाहर फेंकें तो वह भी भजन हो जायगा! निरर्थक कर्म भी भगवान्के अर्पण करनेसे भजन हो जाता है। अगर भगवत्प्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य हो जाय तो फिर आपके सभी कार्य भजन हो जायँगे। फिर आपके द्वारा संसारका काम नहीं होगा, प्रत्युत प्रत्येक काम भगवान्का ही हो जायगा। इसीमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है।

❑ ❑

९ —— नित्यप्राप्तकी प्राप्ति ——

भगवान्‌ने जीवको अपना कल्याण करनेके लिये ही मनुष्य-शरीर दिया है। इस दृष्टिसे मनुष्ययोनि वास्तवमें साधनयोनि है। साधनयोनि होनेके नाते मनुष्य मात्र अपना कल्याण कर सकता है, जन्म-मरणसे मुक्त हो सकता है। क्यों हो सकता है? क्योंकि वास्तवमें वह मुक्त है। इसलिये साधकको सर्वप्रथम इस सत्यको दृढ़तासे स्वीकार करना चाहिये कि मैं मुक्त हो सकता हूँ। क्यों हो सकता हूँ? क्योंकि मैं मुक्त हूँ। मैं परमात्माको प्राप्त कर सकता हूँ। क्यों कर सकता हूँ? क्योंकि परमात्मा प्राप्त हैं। जो सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सब समय हैं, सब व्यक्तियोंमें हैं, सब वस्तुओंमें हैं, सब अवस्थाओंमें हैं, सब घटनाओंमें हैं, सब परिस्थितियोंमें हैं, वे परमात्मा क्या हमसे कभी अलग हो सकते हैं? जैसे परमात्मा हमसे कभी अलग नहीं होते, ऐसे ही शरीरके साथ हमारा कभी मिलन नहीं होता। आजतक हम अनेक योनियोंमें गये, अनेक शरीर धारण किये, पर कोई भी शरीर हमारे साथ नहीं रहा, जबकि हम स्वयं वे-के-वे ही रहे। अतः साधकको यह सत्य स्वीकार कर लेना चाहिये कि परमात्माके साथ हमारा अविभाज्य सम्बन्ध है और संसारके साथ शरीरका अविभाज्य सम्बन्ध है। इसलिये हम शरीरके द्वारा अपने लिये कुछ नहीं कर सकते। शरीरसे कोई भी क्रिया करेंगे तो वह संसारके लिये ही होगी, अपने लिये नहीं। क्रियामात्रका सम्बन्ध संसारके साथ है। हमारा स्वरूप अक्रिय है। अगर हम कोई भी क्रिया न करना चाहें तो शरीरकी क्या जरूरत है?

अब साधकको विचार करना है कि जब शरीरके द्वारा हम अपने लिये कुछ कर ही नहीं सकते, केवल संसारके लिये ही कर सकते हैं, तो फिर अपने लिये क्या कर सकते हैं? कैसे कर सकते हैं? विचार करनेपर पता लगता है कि हम अपने लिये अपने द्वारा निष्काम हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निष्काम हैं। हम अपने लिये निर्मम (ममतारहित) हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निर्मम हैं। हम अपने लिये निरहंकार हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम निरहंकार हैं। गीतामें भगवान् भी हमें निष्काम, निर्मम और निरहंकार होनेके लिये कहते हैं*। क्यों कहते हैं? क्योंकि हम निष्काम, निर्मम और निरहंकार हैं।

हम अपने द्वारा भगवान्‌को अपना मान सकते हैं। क्यों मान सकते हैं? क्योंकि भगवान् अपने हैं। दूसरा कोई अपना है ही नहीं, हो सकता ही नहीं। हम अपने द्वारा संसारसे अलग हो सकते हैं। क्यों हो सकते हैं? क्योंकि हम संसारसे अलग हैं— **'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५)। तात्पर्य यह निकला कि हम अपने लिये निष्काम, निर्मम, निरहंकार हो सकते हैं और अभी हो सकते हैं। ऐसा होनेके लिये शरीरकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत अपने ही द्वारा हो सकते हैं। परिश्रम और पराश्रयका त्याग करके हम अपने ही द्वारा विश्राम और भगवदाश्रय पा सकते हैं। इसमें हम पराधीन नहीं हैं, प्रत्युत सर्वथा स्वाधीन हैं।

---

* विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता २। ७१)

शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता ही नहीं। अतः शरीरके द्वारा हम भोजन तो कर सकते हैं, पर भजन नहीं कर सकते। सेवा भी हम शरीरके द्वारा नहीं कर सकते, प्रत्युत शरीरसे अलग होकर कर सकते हैं। कैसे कर सकते हैं? अपने द्वारा बुराईरहित होकर कर सकते हैं। क्यों कर सकते हैं? क्योंकि हम बुराईरहित हैं—'***चेतन अमल सहज सुख रासी॥***' (मानस, उत्तर० ११७। २)। भजन भी हम अपने ही द्वारा कर सकते हैं। कैसे कर सकते हैं? भगवान्‌में प्रेम करके कर सकते हैं। क्यों कर सकते हैं? क्योंकि हम भगवान्‌के प्रेमी हैं। शरीरके द्वारा हम सेवा और प्रेमकी चर्चा तो कर सकते हैं, पर सेवा और प्रेम नहीं कर सकते।

संसारसे मिले हुए शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा हम संसारको ही प्राप्त कर सकते हैं, परमात्माको नहीं। परमात्माको न शरीरके द्वारा पकड़ा जा सकता है, न मनके द्वारा पकड़ा जा सकता है, न इन्द्रियोंके द्वारा पकड़ा जा सकता है और न बुद्धिके द्वारा पकड़ा जा सकता है। यदि इनके द्वारा परमात्मा पकड़ा जा सकता तो फिर मशीनके द्वारा भी परमात्मा पकड़ा जा सकता! इसलिये यदि साधक परमात्माको प्राप्त करना चाहता है तो उसको शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके आश्रयका त्याग करना पड़ेगा, क्रियाके आश्रयका त्याग करना पड़ेगा। परमात्मा इन शरीरादि जड़ वस्तुओंके द्वारा नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत इनके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-से प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माको पानेके लिये, उनका प्रेमी बननेके लिये हमें न तो शरीरकी आवश्यकता है, न इन्द्रियोंकी आवश्यकता है, न मनकी

आवश्यकता है और न बुद्धिकी ही आवश्यकता है। शरीरके द्वारा मिलनेवाली वस्तु सबको नहीं मिल सकती, पर अपने द्वारा मिलनेवाली वस्तु (परमात्मा) सभीको मिल सकती है। जो किसीको मिले, किसीको न मिले, उसका नाम परमात्मा नहीं है। परमात्मा तो वह है, जो सभीको मिल सकता है। क्यों मिल सकता है? क्योंकि वह मिला हुआ ही है। जब परमात्माके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं तो फिर परमात्मा अप्राप्त कैसे?

❑ ❑

हे जग के करतार तेरी कहा अस्तुति कीजै।
तू ही एक अनेक भयो है, अपनी इच्छा धार॥
तू ही सिरजै तू ही पालै, तू ही करै सँहार।
जित देखूँ तित तू-ही-तू है, तेरा रूप अपार॥
तू ही राम, नारायण तू ही, तू ही कृष्ण मुरार।
साधौं की रक्षाके कारण, युग युग ले औतार॥
तू ही आदि अरु मध्य तुही है, अन्त तेरा उजियार।
दानव देव तुही सूँ प्रकटे, तीन लोक विस्तार॥
जल थलमें व्यापक है तू ही, घट-घट बोलनहार।
तो बिन और कौन है ऐसो, जासों करों पुकार॥
तू ही चतुर शिरोमणि है प्रभु, तू ही पतित उधार।
चरणदास शुकदेव तुही है, जीवन प्राण अधार॥

❑ ❑

१० —— अनेकतामें एकता ——

एक अपरा प्रकृति (जगत्) है, एक परा प्रकृति (जीव) है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। सम्पूर्ण शरीर तथा संसार 'अपरा' के अन्तर्गत हैं और सम्पूर्ण जीव 'परा' के अन्तर्गत हैं। सम्पूर्ण शरीर भी एक हैं। सम्पूर्ण जीव भी एक हैं और परा तथा अपरा जिसकी शक्तियाँ हैं, वे परमात्मा भी एक हैं—'**एकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६।२।१)। अतः शरीरोंकी दृष्टिसे, जीवों (आत्मा)-की दृष्टिसे और परमात्माकी दृष्टिसे—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं, अनेक नहीं हैं। परन्तु जब मनुष्य सबको एक न मानकर अपने और परायेका भेद पैदा कर लेता है, तब उसके जीवनमें बुराई आ जाती है। जैसे, कौरव और पाण्डव एक थे, परन्तु जब धृतराष्ट्रके मनमें '**मामकाः**' (मेरे पुत्र) और '**पाण्डवाः**' (पाण्डुके पुत्र)—यह भेद पैदा हो गया, तब उसके जीवनमें बुराई आ गयी, जिसके परिणाममें महाभारतका युद्ध हुआ। अतः बुराईरहित होनेके लिये साधकको दृढ़तापूर्वक इस सत्यको स्वीकार कर लेना चाहिये कि ऊपरसे अनेक भेद दीखते हुए भी वास्तवमें हम एक हैं—शरीरोंकी दृष्टिसे भी एक हैं, आत्माकी दृष्टिसे भी एक हैं और परमात्माकी दृष्टिसे भी एक हैं। सम्पूर्ण शरीर पंचमहाभूतोंसे बने हुए हैं, इसलिये एक हैं। सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये एक हैं और सम्पूर्ण मनुष्य अलग-अलग नाम-रूपोंसे जिनकी उपासना करते हैं, वे परमात्मा भी एक हैं।

असली भक्त वही हो सकता है, जो किसीको भी पराया

नहीं मानता, प्रत्युत सबको अपना मानता है और सबकी सेवा करता है*। सेवा करनेके लिये सभी अपने हैं, पर अपने लिये केवल परमात्मा ही हैं। हमारे पास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जो भी वस्तुएँ हैं, वे संसारकी हैं और संसारसे ही मिली हैं। परन्तु अपने लिये वही वस्तु हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे। ऐसी वस्तु केवल परमात्मा ही हैं।

असली सेवा है—किसीका भी बुरा न करना। जो कभी किसीका बुरा नहीं करता, उसके द्वारा विश्वमात्रकी सेवा होती है। कारण कि किसीका भी बुरा न करनेसे उसका व्यक्तित्व मिट जाता है और उसका सम्बन्ध सर्वव्यापी, असीम-अनन्त तत्त्वके साथ हो जाता है। जिसके द्वारा कभी किसीका बुरा नहीं होता, वह खुद बुरा नहीं रह सकता, प्रत्युत भला हो जाता है। मनुष्य भलाई करनेसे भला नहीं होता, प्रत्युत बुराईका सर्वथा त्याग करनेसे भला होता है। कारण कि भलाई करना सीमित होता है, पर किसीका बुरा न करना असीम होता है। असीमसे असीम तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये सबसे बड़ी सेवा है—बुराईका त्याग। जिसने बुराईका त्याग कर दिया है, वह सबसे बड़ा आदमी है।

बुराईका त्याग करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य किसीसे कुछ न चाहे, न संसारसे, न परमात्मासे। क्यों न चाहे?

---

* आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो भक्त अपने शरीरकी उपमासे सब जगह मुझे समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।'

क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी अपनी नहीं है। जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि करनेसे कामनाका नाश नहीं होता। कामनाका नाश तब होता है, जब मनुष्य इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि संसारकी कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। जो वस्तु मेरी नहीं होती, वह मेरे लिये भी नहीं होती। जिसपर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं चलता, जो सदा हमारे साथ नहीं रह सकती, जिसकी प्राप्ति होनेसे हमारे अभावकी पूर्ति नहीं होती, वह वस्तु मेरी और मेरे लिये कैसे हो सकती है?

सम्पूर्ण संसार एक है। उसमें जो अलग-अलग देशों और प्रान्तोंका बँटवारा दीखता है, वह मनुष्योंके द्वारा किया गया है। मनुष्य अपने स्वार्थके वशीभूत होकर एक ही संसारमें अनेक भेद पैदा कर लेता है। वास्तवमें सारी सृष्टि एक है और उसका रचयिता परमात्मा भी एक है। जो संसारको जानता है और परमात्माको मानता है, वह मनुष्य भी एक है। वास्तवमें सृष्टि (अपरा) और जीव (परा)-की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। स्वतन्त्र सत्ता एक परमात्माकी ही है। जगत्‌को जीवने ही धारण किया है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५) अर्थात् जगत्‌को सत्ता जीवने ही दी है, इसलिये जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जीव परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७), इसलिये खुद जीवकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि जगत्‌की सत्ता जीवके अधीन है और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है। इसलिये एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। जगत् और जीव—दोनों परमात्मामें ही भासित हो रहे हैं।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध माना हुआ (बनावटी) है और परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध वास्तविक है। जिसके साथ हमारा माना हुआ सम्बन्ध है, उसकी सेवा करनी है और जिसके साथ हमारा वास्तविक सम्बन्ध है, उससे प्रेम करना है। न तो संसारसे कुछ चाहना है और न परमात्मासे ही कुछ चाहना है। सेवा और प्रेम साधकका स्वरूप है। जब साधक परमात्माको संसाररूपमें देखता है, तब वह सेवा करता है और जब परमात्माको परमात्मरूपमें देखता है, तब वह प्रेम करता है। परन्तु साधक सेवक तभी हो सकता है, जब वह इस सत्यको स्वीकार कर ले कि मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये। वह प्रेमी तभी हो सकता है, जब वह इस सत्यको स्वीकार कर ले कि केवल भगवान् अपने हैं।

यदि साधक विवेकपूर्वक विचार करे तो वह अपनेमें ही संसारको देखेगा और परमात्मामें ही अपनेको देखेगा। संसार तो प्रतिक्षण बदलता है, उत्पन्न और नष्ट होता है, पर परमात्मा कभी नहीं बदलते। जो बदलता है, उसकी सत्ता नहीं होती और जो नहीं बदलता, उसीकी सत्ता होती है—‘**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**’ (गीता २।१६)। जब साधक सर्वथा बुराईरहित हो जाता है, तब उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं रहता। फिर उसकी परमात्मासे न तो दूरी रहती है, न भेद रहता है और न भिन्नता ही रहती है। इसीको गीताने ‘**वासुदेवः सर्वम्**’ (७।१९) पदोंसे कहा है।

❑ ❑

११ —— रुपयोंके सहारेसे हानि ——

हमें सबसे पहले अपने जीवनका एक उद्देश्य बनाना चाहिये कि इस जीवनमें हमें परमात्माकी प्राप्ति करनी है। चाहे सारी दुनिया हमारा विरोध करे, पर हमें अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनी है—ऐसा पक्का विचार किये बिना संसार-बन्धन छूटेगा नहीं। अपना उद्देश्य, ध्येय एक बना लो, फिर सब ठीक हो जायगा। जो विधवा हो गयीं अथवा जो साधु हो गये, उनको तो सर्वथा परमात्माकी तरफ लग जाना चाहिये। इसके सिवाय उनका संसारमें क्या काम है? उनका शरीर-निर्वाह हो जायगा। कैसे होगा? यह तो भगवान् जानें!

प्राय: आपने समझ रखा है कि पहले अपने निर्वाहका प्रबन्ध कर लें, रुपये जमा कर लें, पीछे भजन-स्मरण करेंगे। ऐसा भाव आपकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं होने देगा। जिन्होंने अपने पास रुपये जमा किये हुए हैं, उनकी जल्दी आध्यात्मिक उन्नति नहीं होगी। रुपयोंका सम्बन्ध आपकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधा डालेगा। जिसके पास कुछ नहीं है, रोटी कहाँ मिलेगी—इसका भी पता न हो, उसकी जितनी जल्दी उन्नति होगी, उतनी जल्दी रुपये रखकर साधन करनेवालेकी नहीं होगी। कारण कि उसके भीतर रुपयोंका सहारा रहेगा। रुपयोंके सहारेसे कल्याण नहीं होगा, यह निश्चित बात है। जिसके पास रुपयों आदिका कोई सहारा न हो, रोटीका भी ठिकाना न हो कि क्या खायेंगे? कल क्या मिलेगा? उसकी उन्नति बहुत जल्दी होगी। यह बात आपको शायद न जँचे, पर मेरेको यह जँचती है। जिसका रुपयोंका सहारा

रहेगा कि रुपये जमा रखकर उसके ब्याजसे काम चलायेंगे, उसकी जल्दी उन्नति नहीं होगी। रुपयोंका आश्रय रहनेसे भगवान्‌का अनन्य आश्रय नहीं होगा। कुछ भी सहारा रहेगा तो वह परमात्माकी प्राप्ति नहीं होने देगा। दीखता ऐसा है कि रुपयोंका प्रबन्ध हो जाय तो फिर निश्चिन्त होकर भजन करेंगे, पर वास्तवमें निश्चिन्त नहीं हो सकोगे।

भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

यहाँ भगवान्‌ने तीन बातें कही हैं—'**अनन्यचेताः**', '**सततम्**' और '**नित्यशः**'। इन तीनों बातोंका तात्पर्य है—**१.** '**अनन्यचेताः**' अर्थात् एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका सहारा न हो, **२.** '**सततम्**' अर्थात् जिस दिन परमात्मामें लगे, उस दिनसे लेकर मृत्युतक और **३.** '**नित्यशः**' अर्थात् सुबहसे लेकर शामतक—नींद खुलनेसे लेकर नींद आनेतक परमात्मासे जुड़े रहें। इन तीन बातोंसे भगवान् सुलभ हो जाते हैं। जिसका एक भगवान्‌के सिवाय और कोई सहारा नहीं है, ऐसे अनन्यचेता मनुष्यके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है। जिसको रोटी, कपड़ा, मकान आदि किसीका कोई सहारा नहीं है, वह अगर भगवान्‌में लगे तो बहुत जल्दी उन्नति करेगा। कई आदमी कहते हैं कि

हमारे पास पैसा नहीं है, पैसा होता तो भजन करते! यह बिलकुल झूठी बात है। रुपयोंका सहारा दीखता अच्छा है, पर अच्छा है नहीं। जिसके पास कुछ नहीं है, किसीका भी सहारा नहीं है, उसके ऊपर भगवान्‌की बहुत कृपा समझनी चाहिये। वह बड़ा भाग्यशाली है! उसकी बहुत जल्दी उन्नति होगी।

असत् पदार्थोंके सहारेसे ही सबका नुकसान हो रहा है। असत्‌के सहारेसे ही आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो रही है। जो असत्, अनित्य वस्तुका सहारा नहीं लेता, उसकी उन्नति जरूर होगी। सहारा लेना हो तो नित्यका लो। अनित्यका सहारा दीखता तो ठीक है, पर उससे लाभ नहीं होता। रुपये जमा हो जायँगे तो उनका ब्याज आ जायगा, उस ब्याजसे काम चलेगा और निश्चिन्त होकर भजन-स्मरण करेंगे—यह असत्‌का सहारा है। अगर आप आध्यात्मिक उन्नति चाहते हो तो असत्‌का सहारा छोड़ना ही पड़ेगा। असत्‌का सहारा छोड़नेपर उन्नति जरूर होगी, इसमें सन्देह नहीं है। इसलिये किसीका भी सहारा मत लो, न वस्तुका, न व्यक्तिका। सत्संगसे भी लाभ लो, पर उसका सहारा मत लो। गुरुका भी सहारा मत लो। श्रीदयालुदासजी महाराजने कहा है—

बोल न जाणूं कोय अल्प बुद्धि मन वेग तें।
नहिं जाके हरि होय या तो मैं जाणूं सदा॥

(करुणासागर ७४)

तात्पर्य है कि जिसका कोई नहीं होता, उसके भगवान् होते हैं। परन्तु जिनको दीखता है कि हमारे पास रुपये हों तो हम भी भजन करें, वह भजन नहीं कर सकता। संसारमें देखो कि जिनके पास रुपये हैं, वे कितना भजन करते हैं? ज्यादा रुपयोंवाले

सत्संग नहीं कर सकते, सत्संगमें ज्यादा ठहर नहीं सकते। मैंने ऐसे आदमियोंको देखा है, जो सत्संग करते थे। परन्तु जब उनके पास रुपये ज्यादा हो गये, तब उनका सत्संगमें आना छूट गया। संसारका सहारा बिलकुल कामका नहीं है। जिसके पास कुछ नहीं है, कोई सहारा नहीं है, वह व्यक्ति भगवान्‌को बहुत प्रिय होता है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

(श्रीमद्भा० १०।६०।१४)

'हम सदासे अकिंचन हैं और अकिंचन लोगोंसे ही हम प्रेम करते हैं तथा अकिंचन लोग ही हमारेसे प्रेम करते हैं।'

कुन्तीदेवी भगवान्‌से कहती हैं कि आप उन लोगोंको दर्शन देते हैं, जो अकिंचन हैं—'**त्वामकिञ्चनगोचरम्**' (श्रीमद्भा० १।८।२६)। इसलिये जिसके पास अपना करके कुछ नहीं है, वह बड़ा भाग्यशाली है। उसपर भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा है। संसारको अपना माननेसे धोखा ही होगा। संसारका सहारा टिकनेवाला नहीं है, एक दिन छूट जायगा—इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। अगर मनमें रुपयोंका सहारा पकड़ा हुआ रहेगा कि ब्याज आता रहेगा, हम मौजसे भजन-साधन करेंगे तो रुपयोंका भजन होगा, भगवान्‌का नहीं। असली चिन्तन रुपयोंका ही होगा। अगर संसारका सहारा छोड़ दोगे तो फिर भगवान्‌का ही सहारा रहेगा। कारण कि असत्‌का त्याग करनेपर सत् ही शेष रहेगा।

जिनके पास कुछ नहीं है और भीतरमें कोई इच्छा भी नहीं है, वे बड़े बड़भागी हैं। मेरा कुछ नहीं है और मेरेको कुछ नहीं चाहिये—ऐसा भाव रखनेवालेके जीवन-निर्वाहमें कमी नहीं

आयेगी। कुत्तों आदिको देखो। वे बिना झोलीके फकीर हैं! उनके पास न रुपया है, न जमीन–जायदाद है, न कोई जीविका है, फिर भी उनका वंश लाखों वर्षोंसे चलता आया है। भगवान् श्रीरामके राज्यमें भी कुत्तेकी कथा आती है! जिनके पास ज्यादा रुपये हैं, वे खर्च नहीं कर सकते। साधुओंको रोटी भी गरीबोंके घरसे मिलती है, धनियोंके घरसे नहीं। इसका मैं भुक्तभोगी हूँ। गरीबोंके घरमें रसोईतक जा सकते हैं, पर धनियोंके घरमें प्रवेश नहीं कर सकते; क्योंकि वहाँ लाठी लिये हुए आदमी खड़ा रहता है! जिनके पास खानेको रोटी नहीं, पहननेको पूरा कपड़ा नहीं, रहनेको मकान नहीं, अण्टीमें दाम नहीं, पैरोंमें जूती नहीं, सिरपर छाता नहीं, पर एक भगवान्‌का ही सहारा है, वे सन्त–महात्मा बन जाते हैं! पैसा होनेपर भजन करेंगे—यह कोरा वहम है। मैंने धनी आदमियोंसे बात करके देखा है। उनके पास इतना रुपया है कि कई पीढ़ियाँ बिना कुछ किये उन रुपयोंसे अपना जीवन–निर्वाह कर सकती हैं, फिर भी वे रात–दिन रुपये कमानेमें ही लगे हुए हैं। अब वे भजन कैसे कर सकते हैं? रुपयोंका सहारा भजनमें बड़ा भारी विघ्न है।

मेरी सभी भाई–बहनोंसे प्रार्थना है कि आप अपना एक उद्देश्य बना लें कि हमें तो आध्यात्मिक उन्नति करनी है और 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' कहते हुए भगवान्‌को पुकारें। यह बहुत ही उत्तम एवं लाभकी बात है।

❑ ❑

१२ —— मामेकं शरणं व्रज ——

वेदोंका सार उपनिषद् हैं और उपनिषदोंका सार श्रीमद्भगवद्गीता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषदें गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा हैं, गीतारूप महान् अमृत ही दूध है और श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुष ही उसका पान करनेवाले हैं।'

श्रीमद्भगवद्गीताका सार है—शरणागति। शरणागतिको भगवान्ने '**सर्वगुह्यतम**' अर्थात् सबसे अत्यन्त गोपनीय कहा है—'**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु**' (गीता १८। ६४)। यह 'सर्वगुह्यतम' शब्द गीतामें एक ही बार आया है। ऐसी सर्वगुह्यतम शरणागतिकी बात भगवान्ने इस प्रकार कही है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

भगवान्ने सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं बताया। अगर स्वरूपसे त्याग बताते तो कम-से-कम अर्जुन तो युद्ध न करते; क्योंकि युद्ध करना क्षत्रियका धर्म है—'**युद्धे चाप्यपलायनम्**' (गीता १८। ४३)। परन्तु अर्जुनने युद्ध किया है। अतः भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि धर्मकी भी शरण नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत केवल मेरी शरण होनी चाहिये।

जब मनुष्यको अपनी कमजोरीका और भगवान्की सर्वसमर्थताका अनुभव हो जाता है, तब वह शरणागत हो जाता है। शरण होनेमात्रसे शरणागत भक्तमें बड़ी विलक्षणता आ जाती है। उसके

भीतर बहुत विलक्षण भाव पैदा होने लगते हैं। भगवान्‌की शरण होनेपर उनकी कृपासे सब सद्‌गुण प्राप्त हो जाते हैं। भगवान्‌में अनन्त, अपार, असीम शक्ति है, जिसका कोई पारावार नहीं है। अतः मनुष्यको भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधि भूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(७। २९-३०)

'वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं।'

'जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

तात्पर्य है कि जो प्रभुके चरणोंका आश्रय लेकर साधन करते हैं, वे ब्रह्म, जीव, जगत् आदि सबको जान जाते हैं अर्थात् पूर्ण जानकार हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यको तत्परतासे, उत्साहपूर्वक सब कार्य करना चाहिये; परन्तु भरोसा भगवान्‌का ही रखना चाहिये कि भगवान्‌की कृपासे ही मेरा कल्याण होगा। साधनका भी भरोसा नहीं रखना चाहिये। साधनका भरोसा रखनेसे अभिमान पैदा होगा और अभिमानसे पतन होगा।

गीतामें भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हैं—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**' (११। ३३) 'हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे

बाण चलानेवाले अर्जुन! तुम (शत्रुओंको मारनेमें) निमित्तमात्र बन जाओ।' गीताके अन्तमें अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है, अब आप जैसा कहोगे, वैसा करूँगा—'**करिष्ये वचनं तव**' (गीता १८।७३)। फिर भगवान्‌ने जैसा कहा, वैसा ही अर्जुनने किया। जब कर्णके रथका चक्का जमीनमें धँस गया और वह रथसे नीचे उतरकर उसको बाहर निकालनेका प्रयत्न करने लगा, तब भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि बाण चलाओ। अर्जुनकी समझमें बात नहीं आयी, पर समझमें न आनेपर भी उसने बाण चलाना शुरू कर दिया; क्योंकि भगवान्‌ने आज्ञा दे दी तो अब समझनेकी जरूरत नहीं। कर्णने कहा कि तू शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनोंको जानता है, फिर तू अन्याय कैसे कर रहा है? मैं नीचे खड़ा हूँ तथा अन्य काममें लगा हूँ और तू बाण चलाता है! इसका उत्तर भगवान्‌ने दिया कि आततायीको मारनेके लिये विचार नहीं करना चाहिये। आततायीको मारनेवालेको कोई दोष नहीं लगता—यह शास्त्रकी आज्ञा है*। यह सुनकर

---

* अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(वसिष्ठस्मृति ३।१९-२०)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, निःशस्त्र व्यक्तिपर शस्त्रसे प्रहार करनेवाला, धन हरनेवाला, खेत-मकान आदि छीननेवाला एवं स्त्रीको हरनेवाला—ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना ही विचारे मार देना चाहिये। आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कोई भी दोष नहीं लगता।'

अग्निदत्त विषदत्त नर, क्षेत्र दार धन हार।
बहुरि बकारत शस्त्र गहि, अवध वध्य षटकार॥

(पाण्डवयशेन्दुचन्द्रिका १०।१७)

अर्जुन भी समझ गये कि भगवान्‌ने बाण चलानेकी आज्ञा क्यों दी। इसी तरह भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लो और उनकी आज्ञा समझकर कर्तव्य-कर्म करो। अपना अभिमान छोड़कर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलो, फिर मौज-ही-मौज है! सच्चे हृदयसे भगवान्‌का आश्रय लेकर निश्चिन्त रहो, निर्भय रहो, निःशंक रहो, निःशोक रहो। हरदम भगवान्‌का स्मरण करो, जप करो, कीर्तन करो और दूसरोंकी सेवा करो, उनको सुख पहुँचाओ। फिर यह चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं कि क्या होगा, कैसे होगा, उद्धार होगा कि नहीं होगा! हाँ, एक बातका खयाल रखो कि कहीं हम भगवान्‌की आज्ञासे विरुद्ध तो नहीं चल रहे?

हम भगवान्‌के शरण कैसे हों—इसको समझनेके लिये एक दृष्टान्त है। आपके घरकी एक कन्या है, पर आप उसका विवाह (कन्यादान) कर देते हैं तो वह आपके घरकी नहीं रहती। जिस घरमें उसको दे देते हैं, वह उसी घरकी हो जाती है। उसका गोत्र भी बदल जाता है। जब पीहरमें कोई सूतक होता है तो वह उसको नहीं लगता, पर ससुरालका सूतक उसको लग जाता है! वह पीहरमें ही पैदा हुई, वहीं उसका पालन-पोषण हुआ, वहीं वह पढ़-लिखकर योग्य बनी, पर कन्यादान करनेपर वह ससुरालकी हो गयी, पीहरकी नहीं रही। इसी तरहसे आप भगवान्‌के हो जायँ! आप दृढ़तासे यह मान लें कि अब मैं संसारका नहीं रहा, मैं तो भगवान्‌का हो गया। यह गीताकी गोपनीय-से-गोपनीय सार बात है! लड़की तो विवाहके बाद ही ससुरालकी होती है, पर जीव सदासे ही भगवान्‌का है; क्योंकि यह भगवान्‌का ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५।७)। परन्तु भगवान्‌को भूलकर यह दूसरोंका हो जाता है और भटकते-फिरते दुःख पाता है। अतः शरण होनेका तात्पर्य केवल अपनी भूल मिटाना है, कोई नया काम नहीं करना है।

आप सच्चे हृदयसे यह विचार कर लें कि मैं भगवान्‌का हूँ तो आपका जीवन बदल जायगा। आपका जीवन महान् शुद्ध, पवित्र हो जायगा। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌का भजन, ध्यान, नामजप, कीर्तन आदि करें तो अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई बात आज ही नहीं, अभी इसी क्षण सुधर जाय! आज तो बड़ा होता है। रात्रिके बारह बजेतक आज कहलाता है। परन्तु भगवान्‌की शरण लेनेपर तो अभी, इसी क्षण उद्धार हो जाय! इसलिये भगवान् कहते हैं—'**मा शुचः**', सब चिन्ताएँ छोड़ दो। हम भगवान्‌के शरण हो गये तो अब भगवान् जाने, भगवान्‌का काम जाने!

'***होहि राम को नाम जपु***'—भगवान्‌का होकर नामजप किया जाय तो वह नामजप श्रेष्ठ होता है। जैसे बालक माँ-माँ करके रोता है तो वह जिस माँके लिये रोता है, वही माँ उसके पास आती है। जिनके बालक हैं, उन सब स्त्रियोंका नाम माँ है, पर बालकके पुकारनेपर सब माताएँ नहीं दौड़तीं, प्रत्युत एक वही माता दौड़ती है। कारण कि बालक केवल उसीको 'माँ' कहता है, सबको 'माँ' नहीं कहता। उस स्त्रीके कपड़े भी बढ़िया नहीं हैं, गहने भी नहीं हैं, सुन्दर शरीर भी नहीं है, पर बालक तो उसीको 'माँ' कहकर पुकारता है और उसीकी गोदमें जाना चाहता है। इसी तरह भक्त जिनका होकर नामजप करता है, वही (राम, कृष्ण, शंकर, दुर्गा आदि) आ जाते हैं। माँ तो अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं, पर भगवान् अनेक नहीं हैं। भगवान् तत्त्वसे एक ही हैं।

जैसे बालकको स्नान कराकर शुद्ध करना माँकी जिम्मेवारी है, बालककी नहीं, ऐसे ही शरणागत भक्तको शुद्ध करना भगवान्‌की जिम्मेवारी है, भक्तकी नहीं। शरण होनेके बाद भक्तको कोई चिन्ता करनेकी जरूरत ही नहीं है। मीराबाईने सार बात पकड़ ली थी—*'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*। इसलिये मीराबाई निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशंक हो गयी थीं अर्थात् उनके मनमें न चिन्ता थी, न भय था, न शोक था, न शंका थी, प्रत्युत केवल प्रभु-चरणोंका आश्रय था। मीराबाई परदेमें रहनेवाली थीं। वे परदेमें जन्मीं, परदेमें ब्याही गयीं और परदेमें ही रहीं। एक तो स्त्री-जाति और दूसरे परदेमें रहनेवाली होते हुए भी वे अकेली वृन्दावन चली गयीं, द्वारका चली गयीं! उनके भीतर कोई भय था ही नहीं! प्रत्यक्षमें कोई सहायता करनेवाला न होनेपर भी उनके भीतर कितनी दृढ़ता थी! इसलिये *'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*—इसके सिवाय और किसी बातको माननेकी आवश्यकता नहीं है। हम चाहे घरमें रहें, चाहे बाहर रहें, कैसी ही अवस्थामें रहें, एक भगवान्‌का ही आश्रय हो तो फिर किसी बातका भय नहीं।

भगवान् कहते हैं—'**मामेकं शरणं व्रज**' 'एक मेरी शरणमें आ जा।' ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि अनन्यभावसे शरण लेनी चाहिये अर्थात् मैं केवल भगवान्‌का हूँ, और किसीका नहीं हूँ। अब जो भी कमी होगी, वह स्वतः पूरी हो जायगी। शरण होनेमें कोई कमी होगी तो वह भी पूरी हो जायगी। लड़कीका पहले पीहरमें मोह रहता है, पर वह स्वतः मिट जाता है। ससुरालमें वह माँ बन जाती है, फिर दादी-परदादी बन जाती है। फिर उसको याद ही नहीं रहता कि मैं दूसरे घरकी हूँ। पोते-परपोतेकी बहू आती है तो वह कहती है कि 'परायी जायी' (पराये घरमें जन्मी)

छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया! अब उस दादीसे कोई पूछे कि आप तो 'घर जायी' (इस घरमें जन्मी) हो न? पर वह अपनेको 'परायी जायी' मानती ही नहीं! मेरा बेटा है, मेरा पोता है, मेरा परिवार है, मैं परायी जायी कैसे हूँ? मैं तो इस घरकी मालकिन हूँ! वह उसमें इतनी तल्लीन हो जाती है कि उसी घरकी हो जाती है। ऐसे ही आप भगवान्‌के शरण हो जायँ। फिर उसकी पूर्णता स्वतः हो जायगी। आप सर्वथा निर्भय, निःशोक, निश्चन्त और निःशंक हो जायँगे। जैसे वह बूढ़ी दादी घरकी मालकिन बन जाती है, ऐसे ही आप भी भगवान्‌की सम्पत्तिके मालिक बन जायँगे! ब्रह्माजी भगवान्‌से कहते हैं—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ८)

'जो पुरुष क्षण-क्षणपर बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्धानुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मनसे भोग लेता है,एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्‌गद वाणी और पुलकित शरीरसे अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परमपदका अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिताकी सम्पत्तिका पुत्र!'

भगवान् कहते हैं—***'मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि'***। शरणागत भक्त अपने-आपको भगवान्‌को दे देता है तो भगवान् भी अपने-आपको भक्तको दे देते हैं; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११)।

राजा अम्बरीष भगवान्‌के बड़े भक्त थे। उनको तंग करनेके

लिये दुर्वासा ऋषि आये। अम्बरीषने द्वादशीप्रधान एकादशी-व्रत करनेका नियम ले रखा था। जब उन्होंने व्रतका पारण करनेकी तैयारी की, तभी दुर्वासा ऋषि आ गये। अम्बरीषने उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना की तो वे बोले कि हम स्नान-सन्ध्या करके आते हैं, फिर भोजन करेंगे। वहाँ दुर्वासाने जान-बूझकर देरी लगा दी। इधर द्वादशी घड़ीभर शेष रह गयी तो अम्बरीषने ब्राह्मणोंसे पूछा कि 'अब मैं क्या करूँ? द्वादशी समाप्त होनेवाली है। द्वादशीके रहते-रहते पारण होना चाहिये। परन्तु ऋषिके आनेसे पहले भोजन कैसे करूँ?' ब्राह्मणोंने आज्ञा दी कि 'निर्जला उपवास रखनेवाला यदि तुलसीदल और चरणामृत ले लेता है तो उसका भोजन करना भी हो गया और न करना भी हो गया।' अम्बरीषने चरणामृत ले लिया। जब दुर्वासाको पता लगा कि इसने मेरे भोजन करनेसे पहले पारण कर लिया तो उनको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़ी और अम्बरीषको मारनेके लिये एक कृत्या पैदा की। अम्बरीष हाथ जोड़कर खड़े रहे। भगवान्के सुदर्शन चक्रने उस कृत्याको नष्ट कर दिया और दुर्वासाके पीछे लग गया! दुर्वासा भागते-भागते अनेक लोकोंमें गये, ब्रह्माजी और शंकरजीके पास गये, पर कोई भी उनकी चक्रसे रक्षा नहीं कर सका। फिर वे विष्णुभगवान्के पास गये और उनसे रक्षा करनेके लिये प्रार्थना की तो भगवान् बोले कि यह मेरे हाथकी बात नहीं है! मैंने तो अपना चक्र अम्बरीषको उनकी रक्षाके लिये दिया हुआ है, अब वह चक्र मेरा नहीं है!

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं

हूँ। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

दुर्वासाजी वापस अम्बरीषके पास आकर उनके चरणोंमें पड़े और उनसे प्रार्थना की कि मेरेको बचाओ! तब उनको चक्रसे छुटकारा मिला। तात्पर्य है कि भगवान्‌की शरण होनेसे भक्त भगवान्‌से भी बढ़कर हो गया। इस कारण भगवान् भी सुदर्शन चक्रसे दुर्वासाकी रक्षा नहीं कर सके! सुदर्शन चक्र भी भगवान्‌का नहीं रहा! भगवान्‌ने साफ कह दिया कि भाई! मेरे हाथकी बात नहीं है। इसलिये आप सच्चे हृदयसे भगवान्‌के हो जायँ कि 'हे मेरे नाथ! मैं तो आपका हूँ' और निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक हो जायँ।

सुग्रीव भगवान्‌से कहता है कि जिस तरहसे जानकीजी मिल जायँ, वैसा मैं उद्योग करूँगा*, तो भगवान् भी कहते हैं कि तुम लोक-परलोकका सब काम मेरे भरोसे छोड़ दो—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(मानस, किष्किन्धा० ७।५)

वही सुग्रीव जब भगवान्‌का काम करना भूल गया, तब भगवान्‌ने कहा कि जिस बाणसे मैंने बालिको मारा, उसी बाणसे सुग्रीवको मारूँगा! लक्ष्मणजीने कहा कि 'महाराज! आपको तकलीफ करनेकी जरूरत नहीं है, यह काम तो मैं ही कर दूँगा'। तब भगवान् बोले कि 'नहीं-नहीं, सुग्रीवको मारना मत, वह तो मेरा मित्र है। उसको केवल डरा-धमकाकर ले आओ—'***भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥***' (किष्किन्धा० १८)। ऐसे दयालु भगवान्‌के रहते हमें चिन्ता करनेकी क्या जरूरत? उनके

* सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

(मानस, किष्किन्धा० ५।४)

भरोसे निश्चिन्त हो जाओ। दयालुदासजी महाराजने कहा है—

बोल न जाणूं कोय अल्प बुद्धि मन वेग तें।
नहिं जाके हरि होय या तो मैं जाणूं सदा॥

(करुणासागर ७४)

यह मैं सदा जानता हूँ कि जिसका कोई नहीं होता, उसके भगवान् होते हैं। संसारका बल, आश्रय ही बाधक है। लोक-परलोक सबके लिये एक भगवच्चरणोंका आश्रय ले लो और निधड़क रहो—

जब जानकीनाथ सहाय करे तब कौन बिगाड़ करे नर तेरो।

जब भगवान् हमारे सहायक हैं तो फिर हमारा बिगाड़ करनेवाला कोई हो ही नहीं सकता। भाई हो या बहन हो, छोटा हो या बड़ा हो, पढ़ा-लिखा हो या अपढ़ हो, धनी हो या निर्धन हो, कैसा ही क्यों न हो, जो भगवान्‌का भरोसा रखे, उसकी सहायताके लिये भगवान् सब समयमें तैयार हैं, सब तरहसे तैयार हैं!

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किन्धा० १२।१)

भगवान्‌के समान हमारा हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। इसलिये हृदय खोलकर भगवान्‌को पुकारो। मीराबाईने हमें रास्ता दिखा दिया है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***। भगवान् यह नहीं देखते कि आप कैसे हो। वर्षा जब बरसती है, तब यह नहीं देखती कि जगह कैसी है, अच्छी है या मन्दी? काँटेवाले वृक्ष हैं या फलवाले? समुद्रमें जलकी कोई कमी नहीं है, पर वहाँ भी वर्षा बरस जाती है! ऐसे ही भगवान्‌की कृपा

सबपर बरस रही है। सभी उनकी कृपाके पात्र हैं। इसलिये किसीको भी निराश होनेकी जरूरत नहीं है।

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

चातक केवल वर्षाजलके आश्रित रहता है। एक बार चातक ऊपर उड़ रहा था। एक बहेलियेने उसको मार दिया तो वह नीचे गिर गया। नीचे गंगाजी बह रही थी। चातकने अपनी चोंच ऊपर उठा ली कि कहीं गंगाजीका जल मुखमें न चला जाय!

बध्यो बधिक पर्‍यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

(दोहावली ३०२)

जैसे चातकको केवल वर्षाकी बूँदका ही सहारा है, ऐसे ही केवल भगवान्‌का सहारा होना चाहिये। जगह-जगह भटकनेसे, दूसरोंकी गरज करनेसे क्या लाभ? एक भगवान्‌का आश्रय ले लें तो फिर दूसरेके आश्रयकी जरूरत ही नहीं।

बालक माँकी गोदमें बैठा होता है तो राजाको भी धमका देता है, जबकि माँ सर्वशक्तिमान् नहीं होती। फिर भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं। उनमें किसी भी चीजकी, किसी भी तरहकी कोई कमी नहीं है। वे सुन्दर-से-सुन्दर, बलवान्-से-बलवान्, धनवान्-से-धनवान्, विद्वान्-से-विद्वान् हैं। वे सब तरहसे पूर्ण हैं। अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—‘**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः**’ (गीता ११।४३) ‘आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है?’ ऐसे सर्वसमर्थ और

अद्वितीय भगवान् हमारे हैं, फिर किस बातकी चिन्ता? हमें किंचिन्मात्र भी चिन्ता, भय, शोक करनेकी जरूरत नहीं है।

शरणागति बहुत सस्ता, सुगम और श्रेष्ठ साधन है! भगवान्‌ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकि० ६।१८।३३)

'जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी याचना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत (नियम) है।'

एक बार कह दिया कि 'मैं आपका हूँ' तो फिर दूसरी बार क्या कहें? एक बार अपने-आपको दे दिया तो फिर दूसरी बार क्या दें? एक बार शरण होनेमात्रसे सब काम ठीक हो जाता है! कितने ही जन्मोंके पाप क्यों न हों, सब मिट जाते हैं। इस विषयमें दूसरे किसीकी सम्मति लेनेकी जरूरत ही नहीं है। कइयोंका आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं, कइयोंकी गरज करनेकी जरूरत नहीं, कइयोंका भरोसा रखनेकी जरूरत नहीं, केवल एक भगवान्‌के हो जायँ। फिर किसीसे डरनेकी जरूरत नहीं। भगवान् पूर्ण अभय कर देंगे। हमें कोई नया काम नहीं करना है। भगवान्‌के तो हम सदासे हैं ही। केवल अपनी भूल मिटानी है।

❑ ❑

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)
1675	सागरके मोती
1598	सत्संगके फूल
1633	एक संतकी वसीयत
400	कल्याण-पथ
401	मानसमें नाम-वन्दना
605	जित देखूँ तित तू
406	भगवत्प्राप्ति सहज है
535	सुन्दर समाजका निर्माण
1485	ज्ञानके दीप जले
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल
403	जीवनका कर्तव्य
436	कल्याणकारी प्रवचन
405	नित्ययोगकी प्राप्ति
1093	आदर्श कहानियाँ
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
408	भगवान्से अपनापन
861	सत्संग-मुक्ताहार
860	मुक्तिमें सबका अधिकार
409	वास्तविक सुख
1308	प्रेरक कहानियाँ
1408	सब साधनोंका सार
411	साधन और साध्य
412	तात्त्विक प्रवचन
414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
410	जीवनोपयोगी प्रवचन
822	अमृत-बिन्दु
821	किसान और गाय
417	भगवन्नाम
416	जीवनका सत्य
418	साधकोंके प्रति
419	सत्संगकी विलक्षणता
545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
420	मातृशक्तिका घोर अपमान
421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
422	कर्मरहस्य
424	वासुदेवः सर्वम्
425	अच्छे बनो
426	सत्संगका प्रसाद
1733	संत-समागम
1019	सत्यकी खोज
1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
1035	**सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण**	433	**सहज साधना**
1360	**तू-ही-तू**	444	**नित्य-स्तुति और प्रार्थना**
1434	**एक नयी बात**	435	**आवश्यक शिक्षा**
1440	**परम पितासे प्रार्थना**	1072	**क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?**
1441	**संसारका असर कैसे छूटे?**	515	**सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन**
1176	**शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......**	438	**दुर्गतिसे बचो**
431	**स्वाधीन कैसे बनें?**	439	**महापापसे बचो**
702	**यह विकास है या....**	440	**सच्चा गुरु कौन?**
589	**भगवान् और उनकी भक्ति**	729	**सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण**
617	**देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम**	445	**हम ईश्वरको क्यों मानें?**
434	**शरणागति**	745	**भगवत्तत्त्व**
770	**अमरताकी ओर**	632	**सब जग ईश्वररूप है**
432	**एकै साधे सब सधै**	447	**मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा**
427	**गृहस्थमें कैसे रहें?**		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
052	**स्तोत्ररत्नावली**—सानुवाद	140	**श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली**
819	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**—शांकरभाष्य	142	**चेतावनी-पद-संग्रह**
207	**रामस्तवराज**—(सटीक)	144	**भजनामृत**—६७ भजनोंका संग्रह
211	**आदित्यहृदयस्तोत्रम्**	1355	**सचित्र-स्तुति-संग्रह**
224	**श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र**	1214	**मानस-स्तुति-संग्रह**
231	**रामरक्षास्तोत्रम्**	1344	**सचित्र-आरती-संग्रह**
1594	**सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह**	1591	**आरती-संग्रह**—मोटा टाइप
715	**महामन्त्रराजस्तोत्रम्**	208	**सीतारामभजन**
054	**भजन-संग्रह**		